ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

700 श्लोक, संस्कृत और हिंदी अर्थ सहित

18 अध्याय

Wisdom · wisdomquotes.in

विषय सूची

हर अध्याय ऑनलाइन भी पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita

1	अर्जुन विषाद योग 47 श्लोक	3
2	सांख्य योग 72 श्लोक	15
3	कर्म योग 43 श्लोक	36
4	ज्ञान कर्म संन्यास योग 42 श्लोक	48
5	कर्म संन्यास योग 29 श्लोक	59
6	ध्यान योग 47 श्लोक	67
7	ज्ञान विज्ञान योग 30 श्लोक	80
8	अक्षर ब्रह्म योग 28 श्लोक	88
9	राजविद्या राजगुह्य योग 34 श्लोक	97
10	विभूति योग 42 श्लोक	107
11	विश्वरूप दर्शन योग 55 श्लोक	118
12	भक्ति योग 20 श्लोक	140
13	क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग 35 श्लोक	146
14	गुणत्रय विभाग योग 27 श्लोक	156
15	पुरुषोत्तम योग 20 श्लोक	164
16	दैवासुर संपद् विभाग योग 24 श्लोक	171
17	श्रद्धात्रय विभाग योग 28 श्लोक	178
18	मोक्ष संन्यास योग 78 श्लोक	186

अध्याय 1

अर्जुन विषाद योग

अर्जुन का विषाद

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/1

अध्याय 1, श्लोक 1

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥

> धृतराष्ट्र बोले: हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने भी क्या किया ॥

अध्याय 1, श्लोक 2

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

> संजय बोले: उस समय वज्रव्यूहसे खड़ी हुई पाण्डवसेना को देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन बोला ॥

अध्याय 1, श्लोक 3

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

> हे आचार्य आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहरचना से खड़ी की हुई पाण्डवों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये ॥

अध्याय 1, श्लोक 4

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

अध्याय 1, श्लोक 5

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

अध्याय 1, श्लोक 6

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

श्लोक 4 से 6 का अर्थ

> यहाँ पाण्डवों की सेना में बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्ध में भीम और अर्जुनके समान हैं । उनमें युयुधान सात्यकि, राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं । धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं । पुरुजित् और कुन्तिभोजये दोनों भाई तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य भी हैं । पराक्रमी युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा भी हैं । सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी हैं । ये सबकेसब महारथी हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 7

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

> हे द्विजोत्तम हमारे पक्ष में भी जो मुख्य हैं, उनपर भी आप ध्यान दीजिये । आपको याद दिलाने के लिये मेरी सेना के जो नायक हैं, उनको मैं कहता हूँ ॥

अध्याय 1, श्लोक 8

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

> आप द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा ॥

अध्याय 1, श्लोक 9

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

> इनके अतिरिक्त बहुतसे शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीने की इच्छा का भी त्याग कर दिया है और जो अनेक प्रकार के शस्त्रअस्त्रों को चलानेवाले हैं तथा जो सबकेसब युद्धकला में अत्यन्त चतुर हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 10

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

> वह हमारी सेना पाण्डवों पर विजय करने में अपर्याप्त है, असमर्थ है क्योंकि उसके संरक्षक उभयपक्षपाती भीष्म हैं । परन्तु इन पाण्डवों की सेना हमारे पर विजय करने में पर्याप्त है, समर्थ है क्योंकि इसके संरक्षक निजसेनापक्षपाती भीमसेन हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 11

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

> आप सबकेसब लोग सभी मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह दृढ़ता से स्थित रहते हुए ही पितामह भीष्म की चारों ओर से रक्षा करें ॥

अध्याय 1, श्लोक 12

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥

> दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए कुरुवृद्ध प्रभावशाली पितामह भीष्म ने सिंह के समान गरज कर जोर से शंख बजाया ॥

अध्याय 1, श्लोक 13

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

> उसके बाद शंख, भेरी नगाड़े, ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे बाजे एक साथ बज उठे । उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥

अध्याय 1, श्लोक 14

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

> उसके बाद सफेद घोड़ों से युक्त महान् रथ पर बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने दिव्य शंखों को बड़े जोर से बजाया ॥

अध्याय 1, श्लोक 15

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥

> अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक तथा धनञ्जय अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया और भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ॥

अध्याय 1, श्लोक 16

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

> कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ॥

अध्याय 1, श्लोक 17

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

अध्याय 1, श्लोक 18

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥

श्लोक 17 और 18 का अर्थ

> हे राजन् श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न एवं राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा लम्बी-लम्बी भुजाओंवाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सभी ने सब ओर से अलग-अलग अपने-अपने शंख बजाये ॥

अध्याय 1, श्लोक 19

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

> पाण्डवसेना के शंखों के उस भयंकर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदि के हृदय विदीर्ण कर दिये ॥

अध्याय 1, श्लोक 20

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥

> हे महीपते धृतराष्ट्र अब शस्त्रों के चलने की तैयारी हो ही रही थी कि उस समय अन्यायपूर्वक राज्य को धारण करनेवाले राजाओं और उनके साथियों को व्यवस्थितरूप से सामने खड़े हुए देखकर कपिध्वज पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण से ये वचन बोले ॥

अध्याय 1, श्लोक 21

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

अध्याय 1, श्लोक 22

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥

श्लोक 21 और 22 का अर्थ

> अर्जुन बोले: हे अच्युत दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को आप तब तक खड़ा कीजिये, जब तक मैं युद्धक्षेत्र में खड़े हुए इन युद्ध की इच्छावालों को देख न लूँ कि इस युद्धरूप उद्योग में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है ॥

अध्याय 1, श्लोक 23

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

> दुष्टबुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छावाले जो ये राजालोग इस सेना में आये हुए हैं, युद्ध करने को उतावले हुए इन सबको मैं देख लूँ ॥

अध्याय 1, श्लोक 24

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

अध्याय 1, श्लोक 25

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

श्लोक 24 और 25 का अर्थ

> संजय बोले: हे भरतवंशी राजन् निद्राविजयी अर्जुन के द्वारा इस तरह कहने पर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्यभाग में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके इस तरह कहा कि हे पार्थ इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख ॥

अध्याय 1, श्लोक 26

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥

> उसके बाद पृथानन्दन अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित पिताओंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥

अध्याय 1, श्लोक 27

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥

> अपनी-अपनी जगह पर स्थित उन सम्पूर्ण बान्धवों को देखकर वे कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरता से युक्त होकर विषाद करते हुए ये वचन बोले ॥

अध्याय 1, श्लोक 28

कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

अध्याय 1, श्लोक 29

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

अध्याय 1, श्लोक 30

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

श्लोक 28 से 30 का अर्थ

> अर्जुन बोले: हे कृष्ण युद्ध की इच्छावाले इस कुटुम्बसमुदाय को अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीर में कँपकँपी आ रही है एवं रोंगटे खड़े हो रहे हैं । हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है । मेरा मन भ्रमितसा हो रहा है और मैं खड़े रहने में भी असमर्थ हो रहा हूँ ॥

अध्याय 1, श्लोक 31

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

> हे केशव मैं लक्षणों शकुनों को भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्ध में स्वजनोंको मारकर श्रेय लाभ भी नहीं देख रहा हूँ ॥

अध्याय 1, श्लोक 32

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

> हे कृष्ण मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द हमलोगों को राज्य से क्या लाभ भोगों से क्या लाभ अथवा जीने से भी क्या लाभ ॥

अध्याय 1, श्लोक 33

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

> जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये सब अपने प्राणों की और धन की आशा का त्याग करके युद्ध में खड़े हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 34

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

अध्याय 1, श्लोक 35

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

श्लोक 34 और 35 का अर्थ

> आचार्य, पिता, पुत्र और उसी प्रकार पितामह, मा-मा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी सम्बन्धी हैं, मुझ पर प्रहार करने पर भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, और हे मधुसूदन मुझे त्रिलोकी का राज्य मिलता हो, तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिये तो मैं इनको मारूँ ही क्या ॥

अध्याय 1, श्लोक 36

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥

> हे जनार्दन इन धृतराष्ट्रसम्बन्धियों को मारकर हमलोगों को क्या प्रसन्नता होगी इन आततायियों को मारने से तो हमें पाप ही लगेगा ॥

अध्याय 1, श्लोक 37

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

> इसलिये अपने बान्धव इन धृतराष्ट्रसम्बन्धियों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं क्योंकि हे माधव अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥

अध्याय 1, श्लोक 38

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

अध्याय 1, श्लोक 39

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

श्लोक 38 और 39 का अर्थ

> यद्यपि लोभ के कारण जिनका विवेकविचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये दुर्योधन आदि कुल का नाश करने से होनेवाले दोष को और मित्रों के साथ द्वेष करने से होनेवाले पाप को नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन कुल का नाश करने से होनेवाले दोष को ठीक-ठीक जाननेवाले हमलोग इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों न करें ॥

अध्याय 1, श्लोक 40

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

> कुल का क्षय होने पर सदा से चलते आये कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होनेपर बचे हुए सम्पूर्ण कुल को अधर्म दबा लेता है ॥

अध्याय 1, श्लोक 41

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥

> हे कृष्ण अधर्म के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 42

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

> वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जानेवाला ही होता है । श्राद्ध और तर्पण न मिलने से इन कुलघातियों के पितर भी अपने स्थान से गिर जाते हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 43

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥

> इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियों के सदा से चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 44

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

> हे जनार्दन जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्यों का बहुत काल तक नरकों में वापस होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 45

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

> यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों को मारने के लिये तैयार हो गये हैं ॥

अध्याय 1, श्लोक 46

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

> अगर ये हाथों में शस्त्रअस्त्र लिये हुए धृतराष्ट्र के पक्षपाती लोग युद्धभूमि में सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मुझ को मार भी दें, तो वह मेरे लिये बड़ा ही हितकारक होगा ॥

अध्याय 1, श्लोक 47

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

> संजय बोले: ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाले अर्जुन बाणसहित धनुष का त्याग करके युद्धभूमि में रथके मध्यभाग में बैठ गये ॥

अध्याय 2

सांख्य योग

ज्ञान का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/2

अध्याय 2, श्लोक 1

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

> संजय बोले: वैसी कायरता से आविष्ट उन अर्जुन के प्रति, जो कि विषाद कर रहे हैं और आँसुओं के कारण जिनके नेत्रों की देखने की शक्ति अवरुद्ध हो रही है, भगवान् मधुसूदन ये आगे कहे जानेवाले वचन बोले ॥

अध्याय 2, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे अर्जुन इस विषम अवसरपर तुम्हें यह कायरता कहाँसे प्राप्त हुई, जिसका कि श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते, जो स्वर्गको देनेवाली नहीं है और कीर्ति करनेवाली भी नहीं है ॥

अध्याय 2, श्लोक 3

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

> हे पृथानन्दन अर्जुन! इस नपुंसकताको मत प्राप्त हो क्योंकि तुम्हारेमें यह उचित नहीं है । हे परंतप! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके युद्धके लिये खड़े हो जाओ ॥

अध्याय 2, श्लोक 4

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

> अर्जुन बोले: हे मधुसूदन मैं रणभूमिमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ क्योंकि हे अरिसूदन ये दोनों ही पूजाके योग्य हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 5

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

> महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें मैं भिक्षाका अन्न खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ । क्योंकि गुरुजनोंको मारकर यहाँ रक्तसे सने हुए तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 6

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

> हम यह भी नहीं जानते कि हमलोगोंके लिये युद्ध करना और न करना इन दोनोंमेंसे कौनसा अत्यन्त श्रेष्ठ है और हमें इसका भी पता नहीं है कि हम उन्हें जीतेंगे अथवा वे हमें जीतेंगे । जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 7

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

> कायरतारूपदोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करनेवाली हो, वह मेरे लिये कहिये । मैं आपका शिष्य हूँ । आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये ॥

अध्याय 2, श्लोक 8

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध
म्राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

> पृथ्वीपर धनधान्यसमृद्ध और शत्रुरहितराज्य तथा स्वर्गमें देवताओंका आधिपत्य मिल जाय तो भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाय ऐसा मैं नहीं देखता हूँ ॥

अध्याय 2, श्लोक 9

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

> संजय बोले: हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र ऐसा कहकर निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गोविन्दसे मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये ॥

अध्याय 2, श्लोक 10

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥

> हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र दोनों सेनाओंके मध्यभागमें विषाद करते हुए उस अर्जुनके प्रति हँसते हुएसे भगवान् हृषीकेश यह आगे कहे जानेवाले वचन बोले ॥

अध्याय 2, श्लोक 11

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

> श्रीभगवान् बोले: तुमने शोक न करनेयोग्यका शोक किया है और पण्डिताईकी बातें कह रहे हो परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते ॥

अध्याय 2, श्लोक 12

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

> किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे, यह बात भी नहीं है और इसके बाद भविष्य में मैं, तू और राजलोग हम सभी नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है ॥

अध्याय 2, श्लोक 13

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

> देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है । उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता ॥

अध्याय 2, श्लोक 14

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

> हे कुन्तीनन्दन इन्द्रियोंके जो विषय जड पदार्थ हैं, वो तो शीत अनुकूलता और उष्ण प्रतिकूलता के द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं तथा आनेजानेवाले और अनित्य हैं । हे भरतवंशोद्भव अर्जुन उनको तुम सहन करो ॥

अध्याय 2, श्लोक 15

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

> कारण कि हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन सुखदुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श पदार्थ व्यथित सुखीदुःखी नहीं कर पाते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 16

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

> टिप्पणी प0 55 असत् का तो भाव सत्ता विद्यमान नहीं है और सत् का अभाव विद्यमान नहीं है, तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है ॥

अध्याय 2, श्लोक 17

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥

> अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥

अध्याय 2, श्लोक 18

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

> अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहनेवाले इस शरीरी के ये देह अन्तवाले कहे गये हैं । इसलिये हे अर्जुन तुम युद्ध करो ॥

अध्याय 2, श्लोक 19

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

> जो मनुष्य इस अविनाशी शरीरीको मारनेवाला मानता है और जो मनुष्य इसको मरा मानता है, वे दोनों ही इसको नहीं जानते क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 20

न जायते म्रियते वा कदाचि
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

> यह शरीरी न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है । यह जन्मरहित, नित्यनिरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और पुराण अनादि है । शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥

अध्याय 2, श्लोक 21

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

> हे पृथानन्दन जो मनुष्य इस शरीरीको अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये ॥

अध्याय 2, श्लोक 22

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

> मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 23

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

> शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती ॥

अध्याय 2, श्लोक 24

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

> यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता । कारण कि यह नित्य रहनेवाला सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है ॥

अध्याय 2, श्लोक 25

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

> यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है । अतः इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 2, श्लोक 26

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥

> हे महाबाहो! अगर तुम इस देहीको नित्य पैदा होनेवाला अथवा नित्य मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 2, श्लोक 27

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

> क्योंकि पैदा हुएकी जरूर मृत्यु होगी और मरे हुएका जरूर जन्म होगा । इस जन्ममरणरूप परिवर्तन के प्रवाह का परिहार अर्थात् निवारण नहीं हो सकता । अतः इस विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 2, श्लोक 28

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

> हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं । अतः इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है ॥

अध्याय 2, श्लोक 29

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

> कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता है और वैसे ही अन्य कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता । अर्थात यह शरीरी दुर्विज्ञेय है ॥

अध्याय 2, श्लोक 30

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन सबके देहमें यह देही नित्य ही अवध्य है । इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 2, श्लोक 31

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

> अपने स्वधर्म क्षात्रधर्म को देखकर भी तुम्हें विकम्पित अर्थात् कर्तव्यकर्मसे विचलित नहीं होना चाहिये क्योंकि धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है ॥

अध्याय 2, श्लोक 32

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

> अपनेआप प्राप्त हुआ युद्ध खुला हुआ स्वर्गका दरवाजा भी है । हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सुखी भाग्यशाली हैं, जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 33

अथ चैत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

> अब अगर तू यह धर्ममय युद्ध नहीं करेगा, तो अपने धर्म और कीर्तिका त्याग करके पापको प्राप्त होगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 34

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

> और सब प्राणी भी तेरी सदा रहनेवाली अपकीर्तिका कथन अर्थात निंदा करेंगे । वह अपकीर्ति सम्मानित मनुष्यके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होती है ॥

अध्याय 2, श्लोक 35

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

> महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे उपरत हटा हुआ मानेंगे । जिनकी धारणामें तू बहुमान्य हो चुका है, उनकी दृष्टिमें तू लघुताको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 36

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

> तेरे शत्रुलोग तेरी सार्मथ्यकी निन्दा करते हुए न कहनेयोग्य बहुतसे वचन भी कहेंगे । उससे बढ़कर और दुःखकी बात क्या होगी ॥

अध्याय 2, श्लोक 37

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

> अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा । अतः हे कुन्तीनन्दन तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥

अध्याय 2, श्लोक 38

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

> जयपराजय, लाभहानि और सुखदुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा । इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 39

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

> हे पार्थ यह समबुद्धि तेरे लिए पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन जिस समबुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मबन्धनका त्याग कर देगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 40

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

> मनुष्यलोकमें इस समबुद्धिरूप धर्मके आरम्भका नाश नहीं होता, इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता और इसका थोड़ासा भी अनुष्ठान जन्ममरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 41

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

> हे कुरुनन्दन इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है । अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 42

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

अध्याय 2, श्लोक 43

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

श्लोक 42 और 43 का अर्थ

> हे पृथानन्दन! जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं, भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकारकी जिस पुष्पित दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं, जो कि जन्मरूपी कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुतसी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है ॥

अध्याय 2, श्लोक 44

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

> उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥

अध्याय 2, श्लोक 45

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

> वेद तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं हे अर्जुन तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा, निर्द्वन्द्व हो जा, निरन्तर नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित हो जा, योगक्षेमकी चाहना भी मत रख और परमात्मपरायण हो जा ॥

अध्याय 2, श्लोक 46

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

> सब तरफसे परिपूर्ण महान् जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे गड्ढों में भरे जल में मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, वेदों और शास्त्रोंको तत्त्वसे जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीका सम्पूर्ण वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ॥

अध्याय 2, श्लोक 47

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

> कर्तव्यकर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं । अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो ॥

अध्याय 2, श्लोक 48

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

> हे धनञ्जय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धिअसिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 49

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

> बुद्धियोगसमता की अपेक्षा सकामकर्म दूरसे अत्यन्त ही निकृष्ट है । अतः हे धनञ्जय! तू बुद्धि समता का आश्रय ले क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 50

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

> बुद्धिसमता से युक्त मनुष्य यहाँ जीवित अवस्थामें ही पुण्य और पाप दोनोंका त्याग कर देता है । अतः तू योगसमता में लग जा, क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 51

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

> समतायुक्त मनीषी साधक कर्मजन्य फलका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 52

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

> जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 53

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

> जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 2, श्लोक 54

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

> अर्जुन बोले: हे केशव! परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं वह स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 55

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे पृथानन्दन! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपनेआपसे अपनेआपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 56

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

> दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 57

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

> सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभअशुभको प्राप्त करके न तो अभिनन्दित होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥

अध्याय 2, श्लोक 58

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

> जिस तरह कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, ऐसे ही जिस कालमें यह कर्मयोगी इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे समेट लेता हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है ॥

अध्याय 2, श्लोक 59

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

> निराहारी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता । परन्तु इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका तो रस भी परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे निवृत्त हो जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 60

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

> हे कुन्तीनन्दन रसबुद्धि रहनेसे यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं ॥

अध्याय 2, श्लोक 61

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

> कर्मयोगी साधक उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥

अध्याय 2, श्लोक 62

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

अध्याय 2, श्लोक 63

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

श्लोक 62 और 63 का अर्थ

> विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है । आसक्तिसे कामना पैदा होती है । कामनासे क्रोध पैदा होता है । क्रोध होनेपर सम्मोह मूढ़भाव हो जाता है । सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है । स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है । बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 64

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

अध्याय 2, श्लोक 65

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

श्लोक 64 और 65 का अर्थ

> वशीभूत अन्तःकरणवाला कर्मयोगी साधक रागद्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी निर्मलता को प्राप्त हो जाता है । निर्मलता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और ऐसे शुद्ध चित्तवाले साधककी बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है ॥

अध्याय 2, श्लोक 66

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

> जिसके मनइन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती और व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे उसमें कर्तव्यपरायणताकी भावना नहीं होती । ऐसी भावना न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती । फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 67

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

> अपने-अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे एक ही इन्द्रिय जिस मनको अपना अनुगामी बना लेती है, वह अकेला मन जलमें नौकाको वायुकी तरह इसकी बुद्धिको हर लेता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 68

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

> इसलिये हे महाबाहो! जिस मनुष्यकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत वशमें की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥

अध्याय 2, श्लोक 69

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

> सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात परमात्मासे विमुखता है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है, और जिसमें सब प्राणी जागते हैं भोग और संग्रहमें लगे रहते हैं, वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है ॥

अध्याय 2, श्लोक 70

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

> जैसे सम्पूर्ण नदियोंका जल चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें आकर मिलता है, पर समुद्र अपनी मर्यादामें अचल प्रतिष्ठित रहता है ऐसे ही सम्पूर्ण भोगपदार्थ जिस संयमी मनुष्य को विकार उत्पन्न किये बिना ही उसको प्राप्त होते हैं, वही मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ॥

अध्याय 2, श्लोक 71

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥

> जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥

अध्याय 2, श्लोक 72

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

> हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है । इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता । इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय, तो निर्वाण शान्त ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ॥

अध्याय 3

कर्म योग

कर्म का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/3

अध्याय 3, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अध्याय 3, श्लोक 2

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

श्लोक 1 और 2 का अर्थ

> अर्जुन बोले: हे जनार्दन अगर आप कर्मसे बुद्धि ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं आप अपने मिले हुएसे वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहितसी कर रहे हैं । अतः आप निश्चय करके उस एक बात को कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥

अध्याय 3, श्लोक 3

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे निष्पाप अर्जुन इस मनुष्यलोकमें दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमें ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ॥

अध्याय 3, श्लोक 4

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

> मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 5

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

> कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं ॥

अध्याय 3, श्लोक 6

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

> जो कर्मेन्द्रियों सम्पूर्ण इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य मिथ्याचारी मिथ्या आचरण करनेवाला कहा जाता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 7

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

> हे अर्जुन जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करके आसक्तिरहित होकर निष्काम भावसे समस्त इन्द्रियोंके द्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥

अध्याय 3, श्लोक 8

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

> तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्यकर्म कर क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीरनिर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ॥

अध्याय 3, श्लोक 9

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

> यज्ञ कर्तव्यपालन के लिये किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र अपने लिये किये जानेवाले कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है, इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्तव्यकर्म कर ॥

अध्याय 3, श्लोक 10

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

अध्याय 3, श्लोक 11

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

श्लोक 10 और 11 का अर्थ

> प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्यकर्मोंके विधानसहित प्रजामनुष्य आदि की रचना करके उनसे प्रधानतया मनुष्योंसे कहा कि तुमलोग इस कर्तव्यके द्वारा सबकी वृद्धि करो और वह कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो । अपने कर्तव्यकर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार एकदूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ॥

अध्याय 3, श्लोक 12

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

> यज्ञसे भावित पुष्ट हुए देवता भी तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे । इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है ॥

अध्याय 3, श्लोक 13

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

> यज्ञशेष योग का अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते हैं ॥

अध्याय 3, श्लोक 14

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

अध्याय 3, श्लोक 15

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

श्लोक 14 और 15 का अर्थ

> सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं । अन्न वर्षासे होती है । वर्षा यज्ञसे होती है । यज्ञ कर्मोंसे निष्पन्न होता है । कर्मोंको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेदको अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुआ जान । इसलिये वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ कर्तव्यकर्म में नित्य प्रतिष्ठित है ॥

अध्याय 3, श्लोक 16

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

> हे पार्थ जो मनुष्य इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला अघायु पापमय जीवन बितानेवाला मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 17

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

> जो मनुष्य अपनेआपमें ही रमण करनेवाला और अपनेआपमें ही तृप्त तथा अपनेआपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥

अध्याय 3, श्लोक 18

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

> उस कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है, और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है, तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसी भी प्राणीके साथ इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥

अध्याय 3, श्लोक 19

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

> इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्मका भलीभाँति आचरण कर क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 20

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

> राजा जनकजैसे अनेक महापुरुष भी कर्मके द्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं । इसलिये लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू निष्कामभावसे कर्म करनेके योग्य है ॥

अध्याय 3, श्लोक 21

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

> श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं ॥

अध्याय 3, श्लोक 22

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

> हे पार्थ मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्यकर्ममें ही लगा रहता हूँ ॥

अध्याय 3, श्लोक 23

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

अध्याय 3, श्लोक 24

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

श्लोक 23 और 24 का अर्थ

> हे पार्थ अगर मैं किसी समय सावधान होकर कर्तव्यकर्म न करूँ तो बड़ी हानि हो जाय क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं । यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब मनुष्य नष्टभ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरताको करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ॥

अध्याय 3, श्लोक 25

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

अध्याय 3, श्लोक 26

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

श्लोक 25 और 26 का अर्थ

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे । तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मोंको अच्छी तरहसे करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये ॥

अध्याय 3, श्लोक 27

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

> सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 28

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

> हे महाबाहो गुणविभाग और कर्मविभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥

अध्याय 3, श्लोक 29

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

> प्रकृतिजन्य गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं । उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य विचलित न करे ॥

अध्याय 3, श्लोक 30

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

> तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना, ममता और संतापरहित होकर युद्धरूप कर्तव्यकर्मको कर ॥

अध्याय 3, श्लोक 31

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

> जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस पूर्वश्लोकमें वर्णित मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 3, श्लोक 32

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

> परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोषदृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझो ॥

अध्याय 3, श्लोक 33

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

> सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं । ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ॥

अध्याय 3, श्लोक 34

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

> इन्द्रियइन्द्रियके अर्थमें प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर स्थित हैं । मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि वे दोनों ही इसके पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं ॥

अध्याय 3, श्लोक 35

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

> अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥

अध्याय 3, श्लोक 36

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

> अर्जुन बोले: हे वार्ष्णेय! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती लगाये हुएकी तरह किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 37

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

> श्रीभगवान् बोले: रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है । यह बहुत खानेवाला और महापापी है । इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान ॥

अध्याय 3, श्लोक 38

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

> जैसे धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान विवेक ढका हुआ है ॥

अध्याय 3, श्लोक 39

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

> और हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है ॥

अध्याय 3, श्लोक 40

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

> इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामके वासस्थान कहे गये हैं । यह काम इन इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा ज्ञानको ढककर देहाभिमानी मनुष्यको मोहित करता है ॥

अध्याय 3, श्लोक 41

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

> इसलिये हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥

अध्याय 3, श्लोक 42

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

अध्याय 3, श्लोक 43

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

श्लोक 42 और 43 का अर्थ

> इन्द्रियोंको स्थूलशरीरसे पर श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म कहते हैं । इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है औऱ जो बुद्धिसे भी पर है, वह काम है । इस तरह बुद्धिसे पर काम को जानकर अपने द्वारा अपनेआपको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥

अध्याय 4

ज्ञान कर्म संन्यास योग

ज्ञान और कर्म-संन्यास का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/4

अध्याय 4, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

> श्रीभगवान् बोले: मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था । फिर सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा ॥

अध्याय 4, श्लोक 2

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥

> हे परंतप! इस तरह परम्परासे प्राप्त इस कर्मयोग को राजर्षियोंने जाना । परन्तु बहुत समय बीत जानेके कारण वह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया ॥

अध्याय 4, श्लोक 3

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

> तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझसे कहा है क्योंकि यह बड़ा उत्तम रहस्य है ॥

अध्याय 4, श्लोक 4

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

> अर्जुन बोले: आपका जन्म तो अभीका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अतः आपने ही सृष्टिके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था यह बात मैं कैसे समझूँ ॥

अध्याय 4, श्लोक 5

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं । उन सबको मैं जानता हूँ, पर तू नहीं जानता ॥

अध्याय 4, श्लोक 6

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

> मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥

अध्याय 4, श्लोक 7

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

> हे भरतवंशी अर्जुन जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपनेआपको साकाररूपसे प्रकट करता हूँ ॥

अध्याय 4, श्लोक 8

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

> साधुओंभक्तों की रक्षा करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युगयुगमें प्रकट हुआ करता हूँ ॥

अध्याय 4, श्लोक 9

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

> हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं । इस प्रकार मेरे जन्म और कर्मको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है, वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत मुझे प्राप्त होता है ॥

अध्याय 4, श्लोक 10

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

> राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित, मेरेमें ही तल्लीन, मेरे ही आश्रित तथा ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए बहुतसे भक्त मेरे भाव स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 11

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

> हे पृथानन्दन! जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुकरण करते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 12

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

> कर्मोंकी सिद्धि फल चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है ॥

अध्याय 4, श्लोक 13

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

अध्याय 4, श्लोक 14

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

श्लोक 13 और 14 का अर्थ

> मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है । उससृष्टिरचना आदि का कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय रमेश्वरको तू अकर्ता जान । कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते । इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ॥

अध्याय 4, श्लोक 15

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

> पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर कर्म किये हैं, इसलिये तू भी पूर्वजोंके द्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही उन्हींकी तरह कर ॥

अध्याय 4, श्लोक 16

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

> कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस प्रकार इस विषयमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं । अतः वह कर्मतत्त्व मैं तुम्हें भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ संसारबन्धन से मुक्त हो जायगा ॥

अध्याय 4, श्लोक 17

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

> कर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये तथा विकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥

अध्याय 4, श्लोक 18

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

> जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है ॥

अध्याय 4, श्लोक 19

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

> जिसके सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भ संकल्प और कामनासे रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित बुद्धिमान् कहते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 20

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥

> जो कर्म और फलकी आसक्तिका त्याग करके आश्रयसे रहित और सदा तृप्त है, वह कर्मोंमें अच्छी तरह लगा हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥

अध्याय 4, श्लोक 21

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

> जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है, जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित कर्मयोगी केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता ॥

अध्याय 4, श्लोक 22

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

> जो कर्मयोगी फल की इच्छा के बिना, अपनेआप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है और जो ईर्ष्यासे रहित, द्वन्द्वोंसे अतीत तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता ॥

अध्याय 4, श्लोक 23

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

> जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जो मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, ऐसे केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 24

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

> जिस यज्ञमें अर्पण भी ब्रह्म है, हवी भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है, ऐसे यज्ञको करनेवाले जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्मसमाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥

अध्याय 4, श्लोक 25

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

> अन्य योगीलोग भगवदर्पणरूप यज्ञका ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगीलोग ब्रह्मरूप अग्निमें विचाररूप यज्ञके द्वारा ही जीवात्मारूप यज्ञका हवन करते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 26

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

> अन्य योगीलोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 27

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

> अन्य योगीलोग सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्रियाओंको और प्राणोंकी क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 28

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

> दूसरे कितने ही तीक्ष्ण व्रत करनेवाले प्रयत्नशील साधक द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, और कितने ही तपोयज्ञ करनेवाले हैं, और दूसरे कितने ही योगयज्ञ करनेवाले हैं, तथा कितने ही स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 29

अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

अध्याय 4, श्लोक 30

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

श्लोक 29 और 30 का अर्थ

> दूसरे कितने ही प्राणायामके परायण हुए योगीलोग अपानमें प्राणका पूरक करके, प्राण और अपानकी गति रोककर फिर प्राणमें अपानका हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणोंका प्राणोंमें हवन किया करते हैं । ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश करनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 31

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

> हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ॥

अध्याय 4, श्लोक 32

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

> इस प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं । उन सब यज्ञोंको तू कर्मजन्य जान । इस प्रकार जानकर यज्ञ करनेसे तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥

अध्याय 4, श्लोक 33

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

> हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है । सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ ज्ञानतत्त्वज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 4, श्लोक 34

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

> उस तत्त्वज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर समझ । उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे ॥

अध्याय 4, श्लोक 35

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

> जिस तत्त्वज्ञान का अनुभव करनेके बाद तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा, और हे अर्जुन! जिस तत्त्वज्ञान से तू सम्पूर्ण प्राणियोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और उसके बाद मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ॥

अध्याय 4, श्लोक 36

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

> अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापसमुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा ॥

अध्याय 4, श्लोक 37

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

> हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है ॥

अध्याय 4, श्लोक 38

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

> इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है । जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, वह कर्मयोगी उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपनेआपमें पा लेता है ॥

अध्याय 4, श्लोक 39

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

> जो जितेन्द्रिय तथा साधनपरायण है, ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्काल परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 4, श्लोक 40

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

> विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है । ऐसे संशयात्मा मनुष्यके लिये न यह लोक है न परलोक है और न सुख ही है ॥

अध्याय 4, श्लोक 41

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

> हे धनञ्जय! योग समता के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्धविच्छेद हो गया है और ज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, ऐसे स्वरूपपरायण मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते ॥

अध्याय 4, श्लोक 42

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

> इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! हृदयमें स्थित इस अज्ञानसे उत्पन्न अपने संशयका ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके योग समता में स्थित हो जा, और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥

अध्याय 5

कर्म संन्यास योग

संन्यास का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/5

अध्याय 5, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

> अर्जुन बोले: हे कृष्ण! आप कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं । अतः इन दोनों साधनोंमें जो एक निश्चितरूपसे कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये ॥

अध्याय 5, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

> श्रीभगवान् बोले: संन्यास सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं । परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यास सांख्ययोग से कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥

अध्याय 5, श्लोक 3

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

> हे महाबाहो! जो मनुष्य न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह कर्मयोगी सदा संन्यासी समझनेयोग्य है क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 4

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

> बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 5

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

> सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही ठीक देखता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 6

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

> परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना संन्यास सिद्ध होना कठिन है । मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 7

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

> जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जिसका शरीर अपने वशमें है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता ॥

अध्याय 5, श्लोक 8

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥

अध्याय 5, श्लोक 9

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

श्लोक 8 और 9 का अर्थ

> तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, ग्रहण करता, बोलता, मलमूत्र का त्याग करता, सोता, श्वास लेता तथा आँखें खोलता और मूँदता भी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं ऐसा समझकर मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसा माने ॥

अध्याय 5, श्लोक 10

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

> जो भक्तियोगी सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान् में अर्पण करके और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता ॥

अध्याय 5, श्लोक 11

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥

> कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके केवल ममतारहित इन्द्रियाँशरीरमनबुद्धि के द्वारा केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 12

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

> कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है । परन्तु सकाम मनुष्य कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 13

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

> जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, ऐसा देहधारी पुरुष नौ द्वारोंवाले शरीररूपी पुरमें सम्पूर्ण कर्मोंका विवेकपूर्वक मनसे त्याग करके निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 14

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

> परमेश्वर मनुष्योंके न कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके साथ संयोगकी रचना करते हैं किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है ॥

अध्याय 5, श्लोक 15

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

> सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न शुभकर्मको ही ग्रहण करता है किन्तु अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 16

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

> परन्तु जिन्होंने अपने जिस ज्ञानविवक के द्वारा उस अज्ञानका नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी तरह परमतत्त्व परमात्माको प्रकाशित कर देता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 17

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

> जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है, जिनका मन तदाकार हो रहा है, जिनकी स्थिति परमात्मतत्वमें है, ऐसे परमात्मपरायण साधक ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति परमगति को प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 18

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

> ज्ञानी महापुरुष विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 19

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

> जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवितअवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 20

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥

> जो प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धिवाला, मूढ़तारहित तथा ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य ब्रह्ममें स्थित है ॥

अध्याय 5, श्लोक 21

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

> बाह्यस्पर्शमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें जो सुख है, उसको प्राप्त होता है । फिर वह ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य अक्षय सुखका अनुभव करता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 22

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

> क्योंकि हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग सुख हैं, वे आदिअन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं । अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता ॥

अध्याय 5, श्लोक 23

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

> इस मनुष्यशरीरमें जो कोई मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही कामक्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है ॥

अध्याय 5, श्लोक 24

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

> जो मनुष्य केवल परमात्मामें सुखवाला है और केवल परमात्मामें रमण करनेवाला है तथा जो केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है, वह ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥

अध्याय 5, श्लोक 25

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

> जिनका शरीर मनबुद्धिइन्द्रियोंसहित वशमें है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण कल्मष दोष नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 5, श्लोक 26

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

> कामक्रोधसे सर्वथा रहित, जीते हुए मनवाले और स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए सांख्ययोगियोंके लिये दोनों ओरसेशरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद निर्वाण ब्रह्म परिपूर्ण है ॥

अध्याय 5, श्लोक 27

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

अध्याय 5, श्लोक 28

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

श्लोक 27 और 28 का अर्थ

> बाह्य पदार्थोंको बाहर ही छोड़कर और नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, जो मोक्षपरायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है ॥

अध्याय 5, श्लोक 29

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

> भक्त मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी जानकर शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 6

ध्यान योग

ध्यान का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/6

अध्याय 6, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

> श्रीभगवान् बोले: कर्मफलका आश्रय न लेकर जो कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं होता ॥

अध्याय 6, श्लोक 2

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥

> हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास कहते हैं, उसीको तुम योग समझो क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोईसा भी योगी नहीं हो सकता ॥

अध्याय 6, श्लोक 3

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

> जो योगसमता में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्यकर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम शान्ति परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है ॥

अध्याय 6, श्लोक 4

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

> जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 5

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

> अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥

अध्याय 6, श्लोक 6

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

> जिसने अपनेआपसे अपनेआपको जीत लिया है, उसके लिये आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपनेआपको नहीं जीता है, ऐसे अनात्माका आत्मा ही शत्रुतामें शत्रुकी तरह बर्ताव करता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 7

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

> जिसने अपनेआपपर अपनी विजय कर ली है, उस शीतउष्ण अनुकूलताप्रतिकूलता सुखदुःख तथा मानअपमानमें निर्विकार मनुष्यको परमात्मा नित्यप्राप्त हैं ॥

अध्याय 6, श्लोक 8

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

> जिसका अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानसे तृप्त है, जो कूटकी तरह निर्विकार है, जितेन्द्रिय है और मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धिवाला है ऐसा योगी युक्त योगारूढ़ कहा जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 9

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

> सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधुआचरण करनेवालोंमें और पापआचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला मनुष्य श्रेष्ठ है ॥

अध्याय 6, श्लोक 10

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

> भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला, इच्छारहित और अन्तःकरण तथा शरीरको वशमें रखनेवाला योगी अकेला एकान्तमें स्थित होकर मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये ॥

अध्याय 6, श्लोक 11

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

> शुद्ध भूमिपर, जिसपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न अत्यन्त ऊँचा है और न अत्यन्त नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिरस्थापन करके ॥

अध्याय 6, श्लोक 12

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

> उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥

अध्याय 6, श्लोक 13

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

> काया, शिर और ग्रीवाको सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओंको न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे ॥

अध्याय 6, श्लोक 14

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

> जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित है, ऐसा सावधान योगी मनका संयम करके मेरेमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे ॥

अध्याय 6, श्लोक 15

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

> नियत मनवाला योगी मनको इस तरहसे सदा परमात्मामें लगाता हुआ मेरेमें सम्यक् स्थितिवाली जो निर्वाणपरमा शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 16

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

> हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 17

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

> दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 18

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

> वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी है ऐसा कहा जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 19

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

> जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए वश में किए हुए चित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है ॥

अध्याय 6, श्लोक 20

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

> योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपनेआप से अपनेआपको देखता हुआ अपनेआपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 21

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

> जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस सुखमें स्थित हुआ यह ध्यानयोगी फिर कभी तत्त्वसे विचलित नहीं होता ॥

अध्याय 6, श्लोक 22

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

> जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥

अध्याय 6, श्लोक 23

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

> जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये । वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है, उस ध्यानयोगका अभ्यास न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये ॥

अध्याय 6, श्लोक 24

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

> संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे ही इन्द्रियसमूहको सभी ओरसे हटाकर ॥

अध्याय 6, श्लोक 25

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

> धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय और परमात्मस्वरूपमें मनबुद्धि को सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे ॥

अध्याय 6, श्लोक 26

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

> यह अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँवहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही लगाये ॥

अध्याय 6, श्लोक 27

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

> जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण तथा मन सर्वथा शान्तनिर्मल हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मस्वरूप योगीको निश्चित ही उत्तम सात्त्विक सुख प्राप्त होता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 28

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

> इस प्रकार अपनेआपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पापरहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 29

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

> सब जगह अपने स्वरूपको देखनेवाला और ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला योगा अपने स्वरूपको सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें देखता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 30

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

> जो सबमें मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥

अध्याय 6, श्लोक 31

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

> मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ जो योगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरा भजन करता है, वह सब कुछ बर्ताव करता हुआ भी मेरेमें ही बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह सर्वथा मेरेमें ही स्थित है ॥

अध्याय 6, श्लोक 32

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं सः योगी परमो मतः ॥

> हे अर्जुन! जो ध्यानयुक्त ज्ञानी महापुरुष अपने शरीरकी उपमासे सब जगह अपनेको समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है ॥

अध्याय 6, श्लोक 33

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥

> अर्जुन बोले: हे मधुसूदन! आपने समतापूर्वक जो यह योग कहा है, मनकी चञ्चलताके कारण मैं इस योगकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ ॥

अध्याय 6, श्लोक 34

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

> क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ जिद्दी और बलवान् है । उसका निग्रह करना मैं वायुकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥

अध्याय 6, श्लोक 35

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे महाबाहो! यह मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है । परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह किया जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 36

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

> जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है । परन्तु उपायपूर्वक यत्न करनेवाले वश्यात्माको योग प्राप्त हो सकता है, ऐसा मेरा मत है ॥

अध्याय 6, श्लोक 37

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

> अर्जुन बोले: हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, वह अन्तसमयमें अगर योगसे विचलितमना हो जाय, तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिको चला जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 38

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

> हे महाबाहो! संसारके आश्रयसे रहित और परमात्मप्राप्तिके मार्गमें मोहित अर्थात् विचलित इस तरह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक क्या छिन्नभिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ॥

अध्याय 6, श्लोक 39

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

> हे कृष्ण मेरे इस सन्देहका सर्वथा छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं क्योंकि इस संशयका छेदन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता ॥

अध्याय 6, श्लोक 40

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे पृथानन्दन! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं जाता ॥

अध्याय 6, श्लोक 41

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

> वह योगभ्रष्ट पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 42

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

> अथवा वैराग्यवान् योगभ्रष्ट ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें ही जन्म लेता है । इस प्रकारका जो यह जन्म है, यह संसारमें बहुत ही दुर्लभ है ॥

अध्याय 6, श्लोक 43

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

> हे कुरुनन्दन! वहाँपर उसको पूर्वजन्मकृत साधनसम्पत्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है । फिर उससे वह साधनकी सिद्धिके विषयमें पुनः विशेषतासे यत्न करता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 44

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

> वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य भोगोंके परवश होता हुआ भी पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्याससाधन के कारण ही परमात्माकी तरफ खिंच जाता है क्योंकि योगसमता का जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 45

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

> परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है और जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ है, वह योगी फिर परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 6, श्लोक 46

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

> सकामभाववाले तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है ऐसा मेरा मत है । अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा ॥

अध्याय 6, श्लोक 47

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

> सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है ॥

अध्याय 7

ज्ञान विज्ञान योग

ज्ञान-विज्ञान का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/7

अध्याय 7, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे आश्रित होकर योगका अभ्यास करता हुआ तू मेरे समग्ररूपको निःसन्देह जैसा जानेगा, उसको सुन ॥

अध्याय 7, श्लोक 2

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

> तेरे लिये मैं विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिसको जाननेके बाद फिर यहाँ कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा ॥

अध्याय 7, श्लोक 3

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

> हजारों मनुष्योंमें कोई एक वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है ॥

अध्याय 7, श्लोक 4

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अध्याय 7, श्लोक 5

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

श्लोक 4 और 5 का अर्थ

> पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है । हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है ॥

अध्याय 7, श्लोक 6

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

> अपरा और परा इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, ऐसा तुम समझो । मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 7

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

> हे धनञ्जय! मेरे बढ़कर इस जगत् का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है । जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है ॥

अध्याय 7, श्लोक 8

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

> हे कुन्तीनन्दन! जलोंमें रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा प्रकाश मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव ओंकार मैं हूँ, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषार्थ मैं हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 9

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

> पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ, और अग्निमें तेज मैं हूँ, तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवनीशक्ति मैं हूँ और तपस्वियोंमें तपस्या मैं हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 10

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

> हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे जान । बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 11

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! बलवालोंमें काम और रागसे रहित बल मैं हूँ । मनुषयोंमें धर्मसे अविरुद्ध धर्मयुक्त काम मैं हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 12

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥

> और तो क्या कहूँ जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मुझ से ही होते हैं ऐसा समझो । पर मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 13

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

> किन्तु इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता ॥

अध्याय 7, श्लोक 14

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

> क्योंकि मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है । जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 15

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

> मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानवाले, आसुर भावका आश्रय लेनेवाले और मनुष्योंमें महान् नीच तथा पापकर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरे शरण नहीं होते । ९ ॥

अध्याय 7, श्लोक 16

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! पवित्र कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी ये चार प्रकारके मनुष्य मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 17

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

> उन चार भक्तोंमें मेरेमें निरन्तर लगा हुआ, अनन्यभक्तिवाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है ॥

अध्याय 7, श्लोक 18

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

> पहले कहे हुए सबकेसब भक्त बड़े उदार श्रेष्ठ भाववाले हैं । परन्तु ज्ञानी प्रेमी तो मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है । कारण कि वह युक्तात्मा है और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मेरेमें ही दृढ़ आस्थावाला है ॥

अध्याय 7, श्लोक 19

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

> बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें सब कुछ परमात्मा ही है, ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥

अध्याय 7, श्लोक 20

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

> उन-उन कामनाओंसे जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है, ऐसे वे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिसे नियन्त्रित होकर देवताओंके उन-उन नियमोंको धारण करते हुए उन-उन देवताओंके शरण हो जाते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 21

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

> जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ ॥

अध्याय 7, श्लोक 22

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥

> उस मेरे द्वारा दृढ़ की हुई श्रद्धासे युक्त होकर वह मनुष्य सकामभावपूर्वक उस देवताकी उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है परन्तु वह कामनापूर्ति मेरे द्वारा विहित की हुई होती है ॥

अध्याय 7, श्लोक 23

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

> परन्तु उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको उन देवताओंकी आराधनाका फल अन्तवाला नाशवान् ही मिलता है । देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरे ही प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 24

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

> बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभावको न जानते हुए अव्यक्त मनइन्द्रियोंसे पर मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी तरह ही शरीर धारण करनेवाला मानते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 25

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

> जो मूढ़ मनुष्य मेरेको अज और अविनाशी ठीक तरहसे नहीं जानते मानते, उन सबके सामने योगमायासे अच्छी तरहसे आवृत हुआ मैं प्रकट नहीं होता ॥

अध्याय 7, श्लोक 26

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

> हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं, तथा जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ परन्तु मेरेको कोई मूढ़ मनुष्य नहीं जानता ॥

अध्याय 7, श्लोक 27

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

> हे भरतवंशमें उत्पन्न परंतप! इच्छा राग और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वमोहसे मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसारमें मूढ़ताको अर्थात् जन्ममरणको प्राप्त हो रहे हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 28

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

> परन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप नष्ट गये हैं, वे द्वन्द्वमोहसे रहित हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 29

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

> जरा वृद्धावस्था और मरण मृत्यु से मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं ॥

अध्याय 7, श्लोक 30

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

> जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 8

अक्षर ब्रह्म योग

अक्षर ब्रह्म का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/8

अध्याय 8, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

अध्याय 8, श्लोक 2

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

श्लोक 1 और 2 का अर्थ

> अर्जुन बोले: हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है अध्यात्म क्या है कर्म क्या है अधिभूत किसको कहा गया है और अधिदैव किसको कहा जाता है यहाँ अधियज्ञ कौन है और वह इस देहमें कैसे है हे मधूसूदन! नियतात्मा वशीभूत अंतःकरण वाले मनुष्यके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं ॥

अध्याय 8, श्लोक 3

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

> श्रीभगवान् बोले: परम अक्षर ब्रह्म है और जीवका अपना जो होनापन है, उसको अध्यात्म कहते हैं । प्राणियों का उद्भव सत्ता को प्रकट करनेवाला जो त्याग है उसको कर्म कहा जाता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 4

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

> हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! क्षरभाव अर्थात् नाशवान् पदार्थको अधिभूत कहते हैं, पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी अधिदैव हैं और इस देहमें अन्तर्यामीरूपसे मैं ही अधियज्ञ हूँ ॥

अध्याय 8, श्लोक 5

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

> जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरुप को ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥

अध्याय 8, श्लोक 6

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

> हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है वह उस अन्तकालके भावसे सदा भावित होता हुआ उसउसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 7

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

> इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । मेरेमें मन और बुद्धि अर्पित करनेवाला तू निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥

अध्याय 8, श्लोक 8

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

> हे पृथानन्दन! अभ्यासयोगसे युक्त और अन्यका चिन्तन न करनेवाले चित्तसे परम दिव्य पुरुषका चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसीको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 9

कविं पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

> जो सर्वज्ञ, पुराण, शासन करनेवाला, सूक्ष्मसेसूक्ष्म, सबका धारणपोषण करनेवाला, अज्ञानसे अत्यन्त परे, सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका चिन्तन करता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 10

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

> वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तसमयमें अचल मनसे और योगबलके द्वारा भृकुटीके मध्यमें प्राणोंको अच्छी तरहसे प्रविष्ट करके शरीर छोड़नेपर उस परम दिव्य पुरुषको ही प्राप्त होता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 11

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

> वेदवेत्ता लोग जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसको प्राप्त करते हैं और साधक जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वह पद मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा ॥

अध्याय 8, श्लोक 12

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

अध्याय 8, श्लोक 13

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

श्लोक 12 और 13 का अर्थ

> इन्द्रियोंके सम्पूर्ण द्वारोंको रोककर मनका हृदयमें निरोध करके और अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करके योगधारणामें सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ जो ऊँ इस एक अक्षर ब्रह्मका उच्चारण और मेरा स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 14

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

> हे पृथानन्दन! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्यनिरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ ॥

अध्याय 8, श्लोक 15

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

> महात्मालोग मुझे प्राप्त करके दुःखालय और अशाश्वत पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है ॥

अध्याय 8, श्लोक 16

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

> हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती है परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता ॥

अध्याय 8, श्लोक 17

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

> जो मनुष्य ब्रह्माके एक हज़ार चतुर्युगीवाले एक दिनको और सहस्त्र चतुर्युगीपर्यन्त एक रातको जानते हैं, वे मनुष्य ब्रह्माके दिन और रातको जाननेवाले हैं ॥

अध्याय 8, श्लोक 18

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

> ब्रह्माजीके दिनके आरम्भकालमें अव्यक्त ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीर से सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं और ब्रह्माजीकी रातके आरम्भकालमें उसी अव्यक्तमें सम्पूर्ण प्राणी लीन हो जाते हैं ॥

अध्याय 8, श्लोक 19

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

> हे पार्थ! वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न होहोकर प्रकृतिके परवश हुआ ब्रह्माके दिनके समय उत्पन्न होता है और ब्रह्माकी रात्रिके समय लीन होता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 20

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

> परन्तु उस अव्यक्त ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीर से अन्य अनादि सर्वश्रेष्ठ भावरूप जो अव्यक्त है, उसका सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नाश नहीं होता ॥

अध्याय 8, श्लोक 21

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

> उसीको अव्यक्त और अक्षर कहा गया है और उसीको परमगति कहा गया है तथा जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है ॥

अध्याय 8, श्लोक 22

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

> हे पृथानन्दन अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा तो अनन्यभक्तिसे प्राप्त होनेयोग्य है ॥

अध्याय 8, श्लोक 23

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल अर्थात् मार्गमें शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते और जिस मार्गमें गये हुए आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा ॥

अध्याय 8, श्लोक 24

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

> जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्निका अधिपति देवता, दिनका अधिपति देवता, शुक्लपक्षका अधिपति देवता, और छः महीनोंवाले उत्तरायणका अधिपति देवता है, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माजीके साथ ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 8, श्लोक 25

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

> जिस मार्गमें धूमका अधिपति देवता, रात्रिका अधिपति देवता, कृष्णपक्षका अधिपति देवता और छः महीनोंवाले दक्षिणायनका अधिपति देवता है, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गया हुआ योगी सकाम मनुष्य चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर लौट आता है अर्थात् जन्ममरणको प्राप्त होता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 26

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥

> क्योंकि शुक्ल और कृष्ण ये दोनों गतियाँ अनादिकालसे जगत्प्राणिमात्र के साथ सम्बन्ध रखनेवाली मानी गई हैं । इनमेंसे एक गतिमें जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गतिमें जानेवालेको लौटना पड़ता है ॥

अध्याय 8, श्लोक 27

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

> हे पृथानन्दन! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता । अतः हे अर्जुन! तू सब समयमें योगयुक्त हो जा ॥

अध्याय 8, श्लोक 28

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

> योगी इसको शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 9

राजविद्या राजगुह्य योग

राजविद्या और राजगुह्य का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/9

अध्याय 9, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

> श्रीभगवान् बोले: यह अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान दोषदृष्टिरहित तेरे लिये तो मैं फिर अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभसे अर्थात् जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ॥

अध्याय 9, श्लोक 2

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

> यह सम्पूर्ण विद्याओंका और सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है । यह अति पवित्र तथा अतिश्रेष्ठ है और इसका फल भी प्रत्यक्ष है । यह धर्ममय है, अविनाशी है और करनेमें बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है ॥

अध्याय 9, श्लोक 3

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

> हे परंतप इस धर्मकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मेरे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसारके मार्गमें लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मतेमरते रहते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 4

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

अध्याय 9, श्लोक 5

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

श्लोक 4 और 5 का अर्थ

> यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है । सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मुझ में स्थित नहीं हैं मेरे इस ईश्वरसम्बन्धी योगसामर्थ्य को देख सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और उनका धारण, भरणपोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है ॥

अध्याय 9, श्लोक 6

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

> जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मुझमें ही स्थित रहते हैं ऐसा तुम मान लो ॥

अध्याय 9, श्लोक 7

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

> हे कुन्तीनन्दन! कल्पोंका क्षय होनेपर सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 8

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

> प्रकृतिके वशमें होनेसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको मैं कल्पोंके आदिमें अपनी प्रकृतिको वशमें करके बार-बार रचता हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 9

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

> हे धनञ्जय! उन सृष्टिरचना आदि कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मेरेको वे कर्म नहीं बाँधते ॥

अध्याय 9, श्लोक 10

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

> प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत् को रचती है । हे कुन्तीनन्दन! इसी हेतुसे जगत् का विविध प्रकारसे परिवर्तन होता है ॥

अध्याय 9, श्लोक 11

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

> मूर्खलोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप परमभावको न जानते हुए मुझे मनुष्यशरीरके आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 12

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

> जिनकी सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं, सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं और सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् जिनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान सत्फल देनेवाले नहीं होते, ऐसे अविवेकी मनुष्य आसुरी, राक्षसी और मोहिनी फकृतिका आश्रय लेते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 13

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

> परन्तु हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 14

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

> नित्य मेरेमें युक्त मनुष्य दृढ़व्रती होकर लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए और भक्तिपूर्वक कीर्तन करते हुए तथा नमस्कार करते हुये निरन्तर मेरी उपासना करते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 15

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

> दूसरे साधक ज्ञानयज्ञके द्वारा एकीभावसे अभेदभावसे मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे कई साधक अपनेको पृथक् मानकर चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्रुपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्रुप मानकर सेव्यसेवकभावसे मेरी अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 16

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

अध्याय 9, श्लोक 17

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥

अध्याय 9, श्लोक 18

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

श्लोक 16 से 18 का अर्थ

> क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ । जाननेयोग्य पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ । इस सम्पूर्ण जगत्का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 19

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

> हे अर्जुन! संसारके हितके लिये मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, जलको ग्रहण करता हूँ और फिर उस जलको वर्षारूपसे बरसा देता हूँ । और तो क्या कहूँ अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 20

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

> वेदत्रयीमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानको करनेवाले और सोमरसको पीनेवाले जो पापरहित मनुष्य यज्ञोंके द्वारा इन्द्ररूपसे मेरा पूजन करके स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं, वे पुण्यके फलस्वरूप इन्द्रलोकको प्राप्त करके वहाँ स्वर्गमें देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 21

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

> वे उस विशाल स्वर्गलोकके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आ जाते हैं । इस प्रकार तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 22

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

> जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरेमें निरन्तर लगे हुए उन भक्तोंका योगक्षेम अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं वहन करता हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 23

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

> हे कुन्तीनन्दन जो भी भक्त मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी करते हैं मेरा ही पूजन, पर करते है अविधिपूर्वक ॥

अध्याय 9, श्लोक 24

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

> क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी हूँ परन्तु वे मेरेको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है ॥

अध्याय 9, श्लोक 25

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

> सकामभावसे देवताओंका पूजन करनेवाले शरीर छोड़नेपर देवताओंको प्राप्त होते हैं । पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं । भूतप्रेतोंका पूजन करनेवाले भूतप्रेतोंको प्राप्त होते हैं । परन्तु मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 26

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

> जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि यथासाध्य प्राप्त वस्तु को भक्तिपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारभेंट को मैं खा लेता हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 27

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

> हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे ॥

अध्याय 9, श्लोक 28

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

> इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ विहित और अशुभ निषिद्ध सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा । ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे मुक्त हुआ तू मेरेको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 9, श्लोक 29

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

> मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ । उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है । परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ ॥

अध्याय 9, श्लोक 30

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

> अगर कोई दुराचारीसेदुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, तो उसको साधु ही मानना चाहिये । कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है ॥

अध्याय 9, श्लोक 31

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

> वह तत्काल उसी क्षण धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है । हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश पतन नहीं होता ॥

अध्याय 9, श्लोक 32

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

> हे पृथानन्दन! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 9, श्लोक 33

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

> जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान् के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है । इसलिये इस अनित्य और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर ॥

अध्याय 9, श्लोक 34

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर । इस प्रकार मेरे साथ अपनेआपको लगाकर, मेरे परायण हुआ तू मेरेको ही प्राप्त होगा ।
, ॥

अध्याय 10

विभूति योग

ईश्वर की विभूतियों का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/10

अध्याय 10, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे महाबाहो अर्जुन! मेरे परम वचनको तुम फिर भी सुनो, जिसे मैं तुम्हारे हितकी कामनासे कहूँगा क्योंकि तुम मेरेमें अत्यन्त प्रेम रखते हो ॥

अध्याय 10, श्लोक 2

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥

> मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 3

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

> जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे मानता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ़ जानकार है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

अध्याय 10, श्लोक 4

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

अध्याय 10, श्लोक 5

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

श्लोक 4 और 5 का अर्थ

> बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके और अलग-अलग बीस भाव मेरेसे ही होते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 6

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

> सात महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु ये सबकेसब मेरे मनसे पैदा हुए हैं और मेरेमें भाव श्रद्धाभक्ति रखनेवाले हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥

अध्याय 10, श्लोक 7

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

> जो मनुष्य मेरी इस विभूतिको और योगको तत्त्वसे जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥

अध्याय 10, श्लोक 8

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

> मैं संसारमात्रका प्रभव मूलकारण हूँ, और मुझसे ही सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है ऐसा मेरेको मानकर मेरेमें ही श्रद्धाप्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 9

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

> मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जानते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्यनिरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 10

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

> उन नित्यनिरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है ॥

अध्याय 10, श्लोक 11

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

> उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप होनेपन में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 12

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

अध्याय 10, श्लोक 13

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

श्लोक 12 और 13 का अर्थ

> अर्जुन बोले: परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं । आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु व्यापक हैं ऐसा सबकेसब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 14

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

> हे केशव! मेरेसे आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 15

स्वयमेवात्मनाऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

> हे भूतभावन! हे भूतेश हे देव-देव! हे जगत्पते हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेआपसे अपनेआपको जानते हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 16

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

> जिन विभूतियोंसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं ॥

अध्याय 10, श्लोक 17

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥

> हे योगिन्! हरदम साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 18

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

> हे जनार्दन! आप अपने योग सामर्थ्य को और विभूतियोंको विस्तारसे फिर कहिये क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥

अध्याय 10, श्लोक 19

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

> श्रीभगवान् बोले: हाँ, ठीक है । मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये प्रधानतासे संक्षेपसे कहूँगा क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है ॥

अध्याय 10, श्लोक 20

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

> हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही हूँ और प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मरूपसे भी मैं ही स्थित हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 21

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥

> मैं अदितिके पुत्रोंमें विष्णु वामन और प्रकाशमान वस्तुओंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ । मैं मरुतोंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 22

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

> मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और प्राणियोंकी चेतना हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 23

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

> रुद्रोंमें शंकर और यक्षराक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ । वसुओंमें पावक अग्नि और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 24

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

> हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो । सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 25

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

> महर्षियोंमें भृगु और वाणियोंशब्दों में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ । सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 26

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

> सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 27

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

> घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मानो ॥

अध्याय 10, श्लोक 28

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

> आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। सन्तानउत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 29

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

> नागोंमें अनन्त शेषनाग और जलजन्तुओंका अधिपति वरुण मैं हूँ। पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 30

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

> दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंमें काल मैं हूँ। पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 31

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

> पवित्र करनेवालोंमें वायु और शास्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ। जलजन्तुओंमें मगर मैं हूँ। बहनेवाले स्त्रोतोंमें गङ्गाजी मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 32

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

> हे अर्जुन! सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंकातत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 33

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥

> अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता भी मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 34

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

> सबका हरण करनेवाली मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उभ्दव मैं हूँ तथा स्त्रीजातिमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 35

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

> गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और वैदिक छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ ॥

अध्याय 10, श्लोक 36

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

> छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक मनुष्योंका सात्त्विक भाव मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 37

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

> वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव और पाण्डवोंमें धनञ्जय मैं हूँ। मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें कवि शुक्राचार्य भी मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 38

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

> दमन करनेवालोंमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति मैं हूँ। गोपनीय भावोंमें मौन और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मैं हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 39

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

> हे अर्जुन सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ क्योंकि मेरे बिना कोई भी चरअचर प्राणी नहीं है अर्थात् चरअचर सब कुछ मैं ही हूँ॥

अध्याय 10, श्लोक 40

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥

> हे परंतप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है । मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, यह तो केवल संक्षेपसे कहा है ॥

अध्याय 10, श्लोक 41

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

> जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा वस्तु है, उसउसको तुम मेरे ही तेजयोग के अंशसे उत्पन्न हुई समझो ॥

अध्याय 10, श्लोक 42

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

> अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुतसी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ ॥

अध्याय 11

विश्वरूप दर्शन योग

विश्वरूप दर्शन का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/11

अध्याय 11, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

> अर्जुन बोले: केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व जाननेका वचन कहा, उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है ॥

अध्याय 11, श्लोक 2

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

> हे कमलनयन! सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलय मैंने विस्तारपूर्वक आपसे ही सुना है और आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है ॥

अध्याय 11, श्लोक 3

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

> हे पुरुषोत्तम! आप अपनेआपको जैसा कहते हैं, यह वास्तवमें ऐसा ही है । हे परमेश्वर! आपके ईश्वरसम्बन्धी रूपको मैं देखना चाहता हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 4

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽत्मानमव्ययम् ॥

> हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह परम ऐश्वर रूप देखा जा सकता है ऐसा अगर आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी स्वरूपको मुझे दिखा दीजिये ॥

अध्याय 11, श्लोक 5

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे पृथानन्दन! अब मेरे अनेक तरहके, अनेक अनेक वर्णों और आकृतियोंवाले सैकड़ोंहजारों दिव्यरूपोंको तू देख ॥

अध्याय 11, श्लोक 6

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽश्चर्याणि भारत ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन तू बारह आदित्योंको, आठ वसुओंको, ग्यारह रुद्रोंको और दो अश्विनीकुमारोंको तथा उनचास मरुद्गणोंको देख । जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुतसे आश्चर्यजनक रूपोंको भी तू देख ॥

अध्याय 11, श्लोक 7

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥

> हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को अभी देख ले । इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले ॥

अध्याय 11, श्लोक 8

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

> परन्तु तू अपनी इस आँखसे अर्थात् चर्मचक्षुसे मेरेको देख ही नहीं सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरी ईश्वरसम्बन्धी सामर्थ्यको देख ॥

अध्याय 11, श्लोक 9

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

> सञ्जय बोले: हे राजन्! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ऐश्वररूप दिखाया ॥

अध्याय 11, श्लोक 10

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

अध्याय 11, श्लोक 11

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

श्लोक 10 और 11 का अर्थ

> जिसके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तहरके अद्भुत दर्शन हैं, अनेक दिव्य आभूषण हैं, हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं तथा जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो दिव्य वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है, ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अनन्तरूपवाले तथा चारों तरफ मुखवाले देवअपने दिव्य स्वरूप को भगवान् ने दिखाया ॥

अध्याय 11, श्लोक 12

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

> अगर आकाशमें एक साथ हजारों सूर्य उदित हो जायँ, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्माविराट् रूप परमात्मा के प्रकाशके समान शायद ही हो ॥

अध्याय 11, श्लोक 13

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

> उस समय अर्जुनने देवोंके देव भगवान् के उस शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत् को देखा ॥

अध्याय 11, श्लोक 14

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

> भगवान् के विश्वरूपको देखकर अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया । वे हाथ जोड़कर विश्वरूप देवको मस्तकसे प्रणाम करके बोले ॥

अध्याय 11, श्लोक 15

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

> अर्जुन बोले: हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शङ्करजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और सम्पूर्ण दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 16

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

> हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 17

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

> मैं आपको किरीट, गदा, चक्र तथा शङ्ख और पद्म धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब ओर प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 18

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

> आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर अक्षरब्रह्म हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं ऐसा मैं मानता हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 19

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

> आपको मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे संसारको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 20

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

> हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं । आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित व्याकुल हो रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 21

अमी हि त्वां सुरसङ्घाः विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

> वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं । उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं । महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय कल्याण हो मङ्गल हो ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 22

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

> जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव और दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, सात पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 23

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥

> हे महाबाहो आपके बहुत मुखों और नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले, बहुत उदरोंवाले, बहुत विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 24

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

> हे विष्णो! आपके अनेक देदीप्यमान वर्ण हैं, आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं, आपका मुख फैला हुआ है आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं । ऐसे आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 25

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

> आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंको देखकर मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है । इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास आप प्रसन्न होइये ॥

अध्याय 11, श्लोक 26

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

अध्याय 11, श्लोक 27

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

श्लोक 26 और 27 का अर्थ

> हमारे मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं । राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे ही सबकेसब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंके कारण भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रविष्ट हो रहे हैं । उनमेंसे कईएक तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 28

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखाः द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

> जैसे नदियोंके बहुतसे जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके सम्मुख दौड़ते हैं, ऐसे ही वे संसारके महान् शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 29

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

> जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग भी मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 30

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

> आप अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए उन्हें चारों ओरसे बार-बार चाट रहे हैं और हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है ॥

अध्याय 11, श्लोक 31

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

> मुझे यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं हे देवताओंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ॥

अध्याय 11, श्लोक 32

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

> श्रीभगवान् बोले: मैं सम्पूर्ण लोकोंका क्षय करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय मैं इन सब लोगोंका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ । तुम्हारे प्रतिपक्षमें जो योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे ॥

अध्याय 11, श्लोक 33

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

> इसलिये तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो । ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ ॥

अध्याय 11, श्लोक 34

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

> द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मारो । तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो । युद्धमें तुम निःसन्देह वैरियोंको जीतोगे ॥

अध्याय 11, श्लोक 35

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

> सञ्जय बोले: भगवान् केशवका यह वचन सुनकर भयसे कम्पित हुए किरीटी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और अत्यन्त भयभीत होकर फिर प्रणाम करके गद्गदं वाणीसे भगवान् कृष्णसे बोले ॥

अध्याय 11, श्लोक 36

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥

> अर्जुन बोले: हे अन्तर्यामी भगवन्! आपके नाम, गुण, लीलाका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुरागप्रेम को प्राप्त हो रहा है । आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं । यह सब होना उचित ही है ॥

अध्याय 11, श्लोक 37

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

> हे महात्मन्! गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माके भी आदिकर्ता आपके लिये वे सिद्धगण नमस्कार क्यों नहीं करें क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश हे जगन्निवास! आप अक्षरस्वरूप हैं आप सत् भी हैं, असत् भी हैं, और सत्असत् से पर भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 38

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

> आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं तथा आप ही इस संसारके परम आश्रय हैं । आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परमधाम हैं । हे अनन्तरूप! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ॥

अध्याय 11, श्लोक 39

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

> आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह ब्रह्माजीके भी पिता हैं । आपको हजारों बार नमस्कार हो नमस्कार हो और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो नमस्कार हो ॥

अध्याय 11, श्लोक 40

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

> हे सर्व! आपको आगेसे भी नमस्कार हो पीछेसे भी नमस्कार हो सब ओरसे ही नमस्कार हो हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत कर रखा है अतः सब कुछ आप ही हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 41

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

अध्याय 11, श्लोक 42

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

श्लोक 41 और 42 का अर्थ

> आपकी महिमा और स्वरूपको न जानते हुए मेरे सखा हैं ऐसा मानकर मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे हठपूर्वक बिना सोचेसमझे हे कृष्ण! हे यादव हे सखे! इस प्रकार जो कुछ कहा है और हे अच्युत! हँसीदिल्लगीमें, चलतेफिरते, सोतेजागते, उठतेबैठते, खातेपीते समयमें अकेले अथवा उन सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने मेरे द्वारा आपका जो कुछ तिरस्कार किया गया है वह सब अप्रमेयस्वरुप आपसे मैं क्षमा माँगता हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 43

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

> आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं । हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है ॥

अध्याय 11, श्लोक 44

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

> इसलिये शरीरसे लम्बा पड़कर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ । जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है, ऐसे ही हे देव! आप मेरे द्वारा किया गया अपमान सहनेमें समर्थ हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 45

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

> मैंने ऐसा रुप पहले कभी नहीं देखा । इस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और साथहीसाथ भयसे मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है । अतः आप मुझे अपने उसी देवरूपको सौम्य विष्णुरूपको दिखाइये । हे देवेश! हे जगन्निवास आप प्रसन्न होइये ॥

अध्याय 11, श्लोक 46

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

> मैं आपको वैसे ही किरीटधारी, गदाधारी और हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ । इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते आप उसी चतुर्भुजरूपसे हो जाइये ॥

अध्याय 11, श्लोक 47

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्यसे यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजोमय, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसको तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है ॥

अध्याय 11, श्लोक 48

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

> हे कुरुप्रवीर मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूपवाला मैं न वेदोंके पढ़नेसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे कृपापात्रके सिवाय और किसीके द्वारा देखा जाना शक्य हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 49

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

> यह इस प्रकारका मेरा घोररूप देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये । अब निर्भय और प्रसन्न मनवाला होकर तू फिर उसी मेरे इस चतुर्भुज रूपको अच्छी तरह देख ले ॥

अध्याय 11, श्लोक 50

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

> सञ्जय बोले: वासुदेवभगवान् ने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना रूप देवरूप दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुनः सौम्यवपु द्विभुजरूप होकर इस भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया ॥

अध्याय 11, श्लोक 51

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तवसौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

> अर्जुन बोले: हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर मैं इस समय स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 52

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

> श्रीभगवान् बोले: मेरा यह जो रूप तुमने देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं । इस रूपको देखनेके लिये देवता भी नित्य लालायित रहते हैं ॥

अध्याय 11, श्लोक 53

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

> जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका चतुर्भुजरूपवाला मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 54

भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

> परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें, सगुणरूपसे देखनेमें और प्राप्त करनेमें शक्य हूँ ॥

अध्याय 11, श्लोक 55

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

> हे पाण्डव! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है तथा सर्वथा आसक्तिरहित और प्राणिमात्रके साथ निर्वैर है, वह भक्त मेरेको प्राप्त होता है ॥

अध्याय 12

भक्ति योग

भक्ति का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/12

अध्याय 12, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
येचाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

> जो भक्त इस प्रकार निरन्तर आपमें लगे रहकर आपसगुण भगवान् की उपासना करते हैं और जो अविनाशी निराकारकी ही उपासना करते हैं, उनमेंसे उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ॥

अध्याय 12, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

> मेरेमें मनको लगाकर नित्यनिरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं ॥

अध्याय 12, श्लोक 3

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

अध्याय 12, श्लोक 4

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

श्लोक 3 और 4 का अर्थ

> जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके अचिन्त्य, सब जगह परिपूर्ण, अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी उपासना करते हैं, वे प्राणिमात्रके हितमें रत और सब जगह समबुद्धिवाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 12, श्लोक 5

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

> अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले उन साधकोंको अपने साधनमें कष्ट अधिक होता है क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है ॥

अध्याय 12, श्लोक 6

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

> परन्तु जो कर्मोंको मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥

अध्याय 12, श्लोक 7

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

> हे पार्थ! मेरेमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ ॥

अध्याय 12, श्लोक 8

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

> तू मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा इसके बाद तू मेरेमें ही निवास करेगा इसमें संशय नहीं है ॥

अध्याय 12, श्लोक 9

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥

> अगर तू मनको मेरेमें अचलभावसे स्थिर अर्पण करनेमें समर्थ नहीं है, तो हे धनञ्जय! अभ्यासयोगके द्वारा तू मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर ॥

अध्याय 12, श्लोक 10

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

> अगर तू अभ्यासयोग में भी असमर्थ है, तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा । मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 12, श्लोक 11

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

> अगर मेरे योगसमता के आश्रित हुआ तू इसपूर्वश्लोकमें कहे गये साधन को भी करनेमें असमर्थ है, तो मनइन्द्रियोंको वशमें करके सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर ॥

अध्याय 12, श्लोक 12

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

> अभ्याससे शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है । कर्मफलत्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है ॥

अध्याय 12, श्लोक 13

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

अध्याय 12, श्लोक 14

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

श्लोक 13 और 14 का अर्थ

> सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका मित्र प्रेमी और दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुखदुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील, निरन्तर सन्तुष्ट, योगी, शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला मेरेमें अर्पित मनबुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है ॥

अध्याय 12, श्लोक 15

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

> जिससे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होता और जिसको खुद भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित है, वह मुझे प्रिय है ॥

अध्याय 12, श्लोक 16

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

> जो आकाङ्क्षासे रहित, बाहरभीतरसे पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथासे रहित और सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है ॥

अध्याय 12, श्लोक 17

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

> जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है और जो शुभअशुभ कर्मोंमें रागद्वेषका त्यागी है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है ॥

अध्याय 12, श्लोक 18

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥

अध्याय 12, श्लोक 19

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

श्लोक 18 और 19 का अर्थ

> जो शत्रु और मित्रमें तथा मानअपमानमें सम है और शीतउष्ण अनुकूलताप्रतिकूलता तथा सुखदुःखमें सम है एवं आसक्तिसे रहित है, और जो निन्दास्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, जिसकिसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें संतुष्ट, रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममताआसक्तिसे रहित और स्थिर बुद्धिवाला है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है ॥

अध्याय 12, श्लोक 20

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

> जो मेरेमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए भक्त पहले कहे हुए इस धर्ममय अमृतका अच्छी तरहसे सेवन करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ॥

अध्याय 13

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/13

अध्याय 13, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

> अर्जुन बोले: हे केशव! मैं प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय, इन सबको जानना चाहता हूँ ॥

कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं गिना जाता, इसलिए वहाँ इस अध्याय में एक श्लोक कम है।

अध्याय 13, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह रूपसे कहे जानेवाले शरीरको क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीलोग क्षेत्रज्ञ नामसे कहते हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 3

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको ही समझ और क्षेत्रक्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है ॥

अध्याय 13, श्लोक 4

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

> वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है और जिससे जो पैदा हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपमें मेरेसे सुन ॥

अध्याय 13, श्लोक 5

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

> यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंके द्वारा बहुत विस्तारसे कहा गया है तथा वेदोंकी ऋचाओंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और युक्तियुक्त एवं निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥

अध्याय 13, श्लोक 6

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

> मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि महत्तत्त्व, समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है ॥

अध्याय 13, श्लोक 7

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतनाधृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

> इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना प्राणशक्ति और धृति इन विकारोंसहित यह क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है ॥

अध्याय 13, श्लोक 8

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

> मानित्वअपनेमें श्रेष्ठताके भाव का न होना, दम्भित्वदिखावटीपन का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुकी सेवा, बाहरभीतरकी शुद्धि, स्थिरता और मनका वशमें होना ॥

अध्याय 13, श्लोक 9

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

> इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्यका होना, अहंकारका भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियोंमें दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखना ॥

अध्याय 13, श्लोक 10

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

> आसक्तिरहित होना पुत्र, स्त्री, घर आदिमें एकात्मता घनिष्ठ सम्बन्ध न होना और अनुकूलताप्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका नित्य सम रहना ॥

अध्याय 13, श्लोक 11

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

> मेरेमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना, एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना और जनसमुदायमें प्रीतिका न होना ॥

अध्याय 13, श्लोक 12

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा ॥

> अध्यात्मज्ञानमें नित्यनिरन्तर रहना, तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखना यह पूर्वोक्त साधनसमुदाय तो ज्ञान है और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है ऐसा कहा गया है ॥

अध्याय 13, श्लोक 13

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

> जो ज्ञेय है, उसपरमात्मतत्त्व को मैं अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है । वह ज्ञेयतत्त्व अनादि और परम ब्रह्म है । उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 14

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

> वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं । वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 15

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

> वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं आसक्तिरहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरणपोषण करनेवाले हैं तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 16

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

> वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहरभीतर परिपूर्ण हैं और चरअचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूरसेदूर तथा नजदीकसेनजदीक भी वे ही हैं । वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेका विषय नहीं हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 17

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

> वे परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह स्थित हैं । वे जाननेयोग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले, उनका भरणपोषण करनेवाले और संहार करनेवाले हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 18

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

> वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है । वह ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञानसाधनसमुदाय से प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान है ॥

अध्याय 13, श्लोक 19

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

> इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको संक्षेपसे कहा गया । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 20

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

अध्याय 13, श्लोक 21

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

श्लोक 20 और 21 का अर्थ

> प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारों तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो । कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुखदुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 22

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

> प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका सङ्ग ही उसके ऊँचनीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 23

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

> यह पुरुष प्रकृतिशरीर के साथ सम्बन्ध रखनेसे उपद्रष्टा, उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे अनुमन्ता, अपनेको उसका भरणपोषण करनेवाला माननेसे भर्ता, उसके सङ्गसे सुखदुःख भोगनेसे भोक्ता, और अपनेको उसका स्वामी माननेसे महेश्वर बन जाता है । परन्तु स्वरूपसे यह पुरुष परमात्मा कहा जाता है । यह देहमें रहता हुआ भी देहसे पर सम्बन्धरहित ही है ॥

अध्याय 13, श्लोक 24

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैःसह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

> इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य अलग-अलग जानता है, वह सब तरहका बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता ॥

अध्याय 13, श्लोक 25

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

> कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपनेआपसे अपनेआपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 26

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

> दूसरे मनुष्य इस प्रकार ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, आदि साधनोंको नहीं जानते, केवल जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करते हैं, ऐसे वे सुननेके परायण मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं ॥

अध्याय 13, श्लोक 27

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उनको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुए समझो ॥

अध्याय 13, श्लोक 28

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

> जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 29

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

> क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपनेआपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 30

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

> जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपनेआपको अकर्ता देखता अनुभव करता है, वही यथार्थ देखता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 31

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

> जिस कालमें साधक प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित देखता है और उस प्रकृतिसे ही उन सबका विस्तार देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 32

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

> हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है । यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 33

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥

> जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता ॥

अध्याय 13, श्लोक 34

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्री क्षेत्रज्ञ, आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥

अध्याय 13, श्लोक 35

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

> इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरविभाग को तथा कार्यकारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ॥

अध्याय 14

गुणत्रय विभाग योग

त्रिगुण-विभाग का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/14

अध्याय 14, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

> श्रीभगवान् बोले: सम्पूर्ण ज्ञानोंमें उत्तम और पर ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सबकेसब मुनिलोग इस संसारसे मुक्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥

अध्याय 14, श्लोक 2

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

> इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते ॥

अध्याय 14, श्लोक 3

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्तिस्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भका स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥

अध्याय 14, श्लोक 4

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

> हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीजस्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥

अध्याय 14, श्लोक 5

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

> हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं ॥

अध्याय 14, श्लोक 6

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

> हे पापरहित अर्जुन! उन गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल स्वच्छ होनेके कारण प्रकाशक और निर्विकार है । वह सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे देहीको बाँधता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 7

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

> हे कुन्तीनन्दन! तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले रजोगुणको तुम रागस्वरूप समझो । वह कर्मोंकी आसक्तिसे शरीरधारीको बाँधता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 8

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

> हे भरतवंशी अर्जुन! सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तुम अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला समझो । वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा देहधारियोंको बाँधता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 9

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है तथा तमोगुण ज्ञानको ढककर एवं प्रमादमें भी लगाकर मनुष्यपर विजंय करता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 10

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण सत्त्वगुण, और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 11

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

> जब इस मनुष्यशरीरमें सब द्वारोंइन्द्रियों और अन्तःकरण में प्रकाश स्वच्छता और ज्ञान विवेक प्रकट हो जाता है, तब जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ॥

अध्याय 14, श्लोक 12

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

> हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा ये वृत्तियाँ पैदा होती हैं ॥

अध्याय 14, श्लोक 13

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

> हे कुरुनन्दन! तमोगुणके बढ़नेपर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं ॥

अध्याय 14, श्लोक 14

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

> जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस समय यदि देहधारी मनुष्य मर जाता है, तो वह,उत्तमवेत्ताओंके निर्मल लोकोंमें जाता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 15

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥

> रजोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला प्राणी मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मूढ़योनियोंमें जन्म लेता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 16

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

> विवेकी पुरुषोंने शुभकर्मका तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, राजस कर्मका फल दुःख कहा है और तामस कर्मका फल अज्ञान मूढ़ता कहा है ॥

अध्याय 14, श्लोक 17

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

> सत्त्वगुणसे ज्ञान और रजोगुणसे लोभ आदि ही उत्पन्न होते हैं तमोगुणसे प्रमाद, मोह एवं अज्ञान भी उत्पन्न होता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 18

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

> सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं ॥

अध्याय 14, श्लोक 19

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

> जब विवेकी विचारकुशल मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 20

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

> देहधारी विवेकी मनुष्य देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखोंसे रहित हुआ अमरताका अनुभव करता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 21

अर्जुन उवाच

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

> अर्जुन बोले: हे प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होता है उसके आचरण कैसे होते हैं और इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 22

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

> श्रीभगवान् बोले: हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता, और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता ॥

अध्याय 14, श्लोक 23

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

> जो उदासीनकी तरह स्थित है और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता ॥

अध्याय 14, श्लोक 24

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

अध्याय 14, श्लोक 25

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

श्लोक 24 और 25 का अर्थ

> जो धीर मनुष्य सुखदुःखमें सम तथा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है जो प्रियअप्रियमें तथा अपनी निन्दास्तुतिमें सम रहता है जो मानअपमानमें तथा मित्रशत्रुके पक्षमें सम रहता है जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह मनुष्य गुणातीत कहा जाता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 26

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

> जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ॥

अध्याय 14, श्लोक 27

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

> क्योंकि ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ ॥

अध्याय 15

पुरुषोत्तम योग

पुरुषोत्तम का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/15

अध्याय 15, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

> श्रीभगवान् बोले: ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसारवृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है ॥

अध्याय 15, श्लोक 2

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

> उस संसारवृक्षकी गुणोंसत्त्व, रज और तम के द्वारा बढ़ी हुई तथा विषयरूप कोंपलोंवाली शाखाएँ नीचे, मध्यमें और ऊपर सब जगह फैली हुई हैं । मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले मूल भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रहे हैं ॥

अध्याय 15, श्लोक 3

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

> इस संसारवृक्षका जैसा रूप देखनेमें आता है, वैसा यहाँ विचार करनेपर मिलता नहीं क्योंकि इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है । इसलिये इस दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप अश्वत्थवृक्षको दृढ़ असङ्गतारूप शस्त्रके द्वारा काटकर ॥

अध्याय 15, श्लोक 4

ततः पदं तत्परिमार्गितव्य
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

> उसके बाद उस परमपदपरमात्मा की खोज करनी चाहिये जिसको प्राप्त होनेपर मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिससे अनादिकालसे चली आनेवाली यह सृष्टि विस्तारको प्राप्त हुई है, उस आदिपुरुष परमात्माके ही मैं शरण हूँ ॥

अध्याय 15, श्लोक 5

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

> जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है, जो नित्यनिरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं, जो अपनी दृष्टिसे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं, जो सुखदुःखरूप द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे ऊँची स्थितिवाले मोहरहित साधक भक्त उस अविनाशी परमपदपरमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥

अध्याय 15, श्लोक 6

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

> उसपरमपद को न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परमधाम है ॥

अध्याय 15, श्लोक 7

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

> इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अपना मान लेता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 8

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

> जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाती है, ऐसे ही शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 9

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

> यह जीवात्मा मनका आश्रय लेकर श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 10

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

> शरीरको छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीरमें स्थित हुए अथवा विषयोंको भोगते हुए भी गुणोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपको मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले ज्ञानी मनुष्य ही जानते हैं ॥

अध्याय 15, श्लोक 11

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

> यत्न करनेवाले योगीलोग अपनेआपमें स्थित इस परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं । परन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करनेपर भी इस तत्त्वका अनुभव नहीं करते ॥

अध्याय 15, श्लोक 12

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

> सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है, उस तेजको मेरा ही जान ॥

अध्याय 15, श्लोक 13

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

> मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ और मैं ही रसमय चन्द्रमाके रूपमें समस्त ओषधियोंवनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ ॥

अध्याय 15, श्लोक 14

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

> प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं प्राणअपानसे युक्त वैश्वानर होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥

अध्याय 15, श्लोक 15

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

> मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ । मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन संशय आदि दोषोंका नाश होता है । सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ । वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥

अध्याय 15, श्लोक 16

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

> इस संसारमें क्षर नाशवान् और अक्षर अविनाशी ये दो प्रकारके पुरुष हैं । सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर नाशवान् और कूटस्थ जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 17

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

> उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है । वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरणपोषण करता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 18

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

> मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥

अध्याय 15, श्लोक 19

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

> हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है ॥

अध्याय 15, श्लोक 20

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

> हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है । हे भरतवंशी अर्जुन! इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् तथा प्राप्तप्राप्तव्य और कृतकृत्य हो जाता है ॥

अध्याय 16

दैवासुर संपद् विभाग योग

दैवी और आसुरी संपदा का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/16

अध्याय 16, श्लोक 1

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

> श्रीभगवान् बोले: भयका सर्वथा अभाव अन्तःकरणकी शुद्धि ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति सात्त्विक दान इन्द्रियोंका दमन यज्ञ स्वाध्याय कर्तव्यपालनके लिये कष्ट सहना शरीरमनवाणीकी सरलता ॥

अध्याय 16, श्लोक 2

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

> अहिंसा, सत्यभाषण क्रोध न करना संसारकी कामनाका त्याग अन्तःकरणमें रागद्वेषजनित हलचलका न होना चुगली न करना प्राणियोंपर दया करना सांसारिक विषयोंमें न ललचाना अन्तःकरणकी कोमलता अकर्तव्य करनेमें लज्जा चपलताका अभाव ॥

अध्याय 16, श्लोक 3

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

> तेज प्रभाव, क्षमा, धैर्य, शरीरकी शुद्धि, वैरभावका न रहना और मानको न चाहना, हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 4

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥

> हे पृथानन्दन! दम्भ करना, घमण्ड करना, अभिमान करना, क्रोध करना, कठोरता रखना और अविवेकका होना भी ये सभी आसुरीसम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 5

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

> दैवीसम्पत्ति मुक्तिके लिये और आसुरीसम्पत्ति बन्धनके लिये है । हे पाण्डव तुम दैवीसम्पत्तिको प्राप्त हुए हो, इसलिये तुम्हें शोक चिन्ता नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 16, श्लोक 6

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥

> इस लोकमें दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि है दैवी और आसुरी । दैवीका तो मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया, अब हे पार्थ! तुम मेरेसे आसुरीका विस्तार सुनो ॥

अध्याय 16, श्लोक 7

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

> आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते और उनमें न बाह्यशुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्यपालन ही होता है ॥

अध्याय 16, श्लोक 8

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

> वे कहा करते हैं कि संसार असत्य, अप्रतिष्ठित और बिना ईश्वरके अपनेआप केवल स्त्रीपुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है । इसलिये काम ही इसका कारण है, और कोई कारण नहीं है ॥

अध्याय 16, श्लोक 9

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

> उपर्युक्त नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेनेवाले जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते, जिनकी बुद्धि तुच्छ है, जो उग्रकर्मा और संसारके शत्रु हैं, उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्का नाश करनेके लिये ही होता है ॥

अध्याय 16, श्लोक 10

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

> कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले तथा अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य मोहके कारण दुराग्रहोंको धारण करके संसारमें विचरते रहते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 11

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

> वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले और जो कुछ है, वह इतना ही है ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 12

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

> वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य कामक्रोधके परायण होकर पदार्थोंका भोग करनेके लिये अन्यायपूर्वक धनसंचय करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 13

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

> इतनी वस्तुएँ तो हमने आज प्राप्त कर लीं और अब इस मनोरथको प्राप्त पूरा कर लेंगे । ,इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर हो जायगा ॥

अध्याय 16, श्लोक 14

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

> वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे । हम सर्वसमर्थ हैं । हमारे पास भोगसामग्री बहुत है । हम सिद्ध हैं । हम बड़े बलवान् और सुखी हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 15

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

> हम धनवान् हैं, बहुतसे मनुष्य हमारे पास हैं, हमारे समान और कौन है हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे इस तरह वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 16

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

> कामनाओंके कारण तरहतरहसे भ्रमित चित्तवाले, मोहजालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए तथा पदार्थों और भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य भयङ्कर नरकोंमें गिरते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 17

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

> अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले, अकड़ रखनेवाले तथा धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले वे मनुष्य दम्भसे अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञोंसे यजन करते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 18

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

> वे अहङ्कार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें रहनेवाले मुझ अन्तर्यामीके साथ द्वेष करते हैं तथा मेरे और दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि रखते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 19

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

> उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच, अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता ही रहता हूँ ॥

अध्याय 16, श्लोक 20

असुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

> हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ मनुष्य मेरेको प्राप्त न करके ही जन्मजन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयङ्कर नरकोंमें चले जाते हैं ॥

अध्याय 16, श्लोक 21

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

> काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे जीवात्माका पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये ॥

अध्याय 16, श्लोक 22

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

> हे कुन्तीनन्दन! इन नरकके तीनों दरवाजोंसे रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 16, श्लोक 23

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

> जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिअन्तःकरणकी शुद्धि को, न सुखको और न परमगतिको ही प्राप्त होता है ॥

अध्याय 16, श्लोक 24

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

> अतः तेरे लिये कर्तव्यअकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य कर्म करनेयोग्य है ॥

अध्याय 17

श्रद्धात्रय विभाग योग

त्रिविध श्रद्धा का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/17

अध्याय 17, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

> अर्जुन बोले: हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक देवता आदिका पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा फिर कौनसी है सात्त्विकी है अथवा राजसीतामसी ॥

अध्याय 17, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

> श्रीभगवान् बोले: मनुष्योंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी ऐसे तीन तरहकी ही होती है, उसको तुम मेरेसे सुनो ॥

अध्याय 17, श्लोक 3

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

> हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह मनुष्य श्रद्धामय है । इसलिये जो जैसी श्रद्धावाला है, वही उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा स्थिति है ॥

अध्याय 17, श्लोक 4

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

> सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसोंका और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणोंका पूजन करते हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 5

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

अध्याय 17, श्लोक 6

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

श्लोक 5 और 6 का अर्थ

> जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं जो दम्भ और अहङ्कारसे अच्छी तरह युक्त हैं जो भोगपदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं जो शरीरमें स्थित पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं उन अज्ञानियोंको तू आसुर निश्चयवाले आसुरी सम्पदावाले समझ ॥

अध्याय 17, श्लोक 7

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥

> आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, दान और तप भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी तीन प्रकारकी रुचि होती है, तू उनके इस भेदको सुन ॥

अध्याय 17, श्लोक 8

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

> आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको शक्ति देनेवाले, रसयुक्त तथा चिकने ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 9

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

> अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 10

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

> जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धित, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो महान् अपवित्र भी है, वह तामस मनुष्यको प्रिय होता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 11

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

> यज्ञ करना कर्तव्य है इस तरह मनको समाधान करके फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥

अध्याय 17, श्लोक 12

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

> परन्तु हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जो यज्ञ फलकी इच्छाको लेकर अथवा दम्भदिखावटीपन के लिये भी किया जाता है, उसको तुम राजस समझो ॥

अध्याय 17, श्लोक 13

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

> शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 14

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

> देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्यका पालन करना और हिंसा न करना यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 15

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

> उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकारक भाषण तथा स्वाध्याय और अभ्यास करना यह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 16

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

> मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी शुद्धि इस तरह यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 17

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

> परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा तीन प्रकारशरीर, वाणी और मन का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 18

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥

> जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा दिखानेके भावसे किया जाता है, वह इस लोकमें अनिश्चित और नाशवान् फल देनेवाला तप राजस कहा गया है ॥

अध्याय 17, श्लोक 19

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

> जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ॥

अध्याय 17, श्लोक 20

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

> दान देना कर्तव्य है ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥

अध्याय 17, श्लोक 21

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

> किन्तु जो दान प्रत्युपकारके लिये अथवा फलप्राप्तिका उद्देश्य बनाकर फिर क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 22

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

> जो दान बिना सत्कारके तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥

अध्याय 17, श्लोक 23

तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

> ॐ, तत् और सत् इन तीनों नामोंसे जिस परमात्माका निर्देश किया गया है, उसी परमात्माने सृष्टिके आदिमें वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञोंकी रचना की है ॥

अध्याय 17, श्लोक 24

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

> इसलिये वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा ॐ इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 25

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

> तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है ऐसा मानकर मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा फलकी इच्छासे रहित होकर अनेक प्रकारकी यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं ॥

अध्याय 17, श्लोक 26

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

> हे पार्थ! परमात्माके सत्इस नामका सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्मके साथ सत् शब्द जोड़ा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 27

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

> यज्ञ, तप और दानरूप क्रियामें जो स्थिति निष्ठा है, वह भी सत् ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके निमित्त किया जानेवाला कर्म भी सत् ऐसा ही कहा जाता है ॥

अध्याय 17, श्लोक 28

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

> हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो,कुछ किया जाय, वह सब असत् ऐसा कहा जाता है । उसका फल न यहाँ होता है, न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता ॥

अध्याय 18

मोक्ष संन्यास योग

मोक्ष-संन्यास का योग

यह अध्याय ऑनलाइन पढ़ें: wisdomquotes.in/hi/gita/chapter/18

अध्याय 18, श्लोक 1

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

> अर्जुन बोले: हे महाबाहो! हे हृषीकेश हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥

अध्याय 18, श्लोक 2

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

> श्रीभगवान् बोले: कई विद्वान् काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं और कई विद्वान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 3

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

> कई विद्वान् कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और कई विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥

अध्याय 18, श्लोक 4

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू संन्यास और त्याग इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुन क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 5

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

> यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको तो करना ही चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 6

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

> हे पार्थ! पूर्वोक्त यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंको तथा दूसरे भी कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके करना चाहिये यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है ॥

अध्याय 18, श्लोक 7

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

> नियत कर्मका तो त्याग करना उचित नहीं है । उसका मोहपूर्वक त्याग करना तामस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 8

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

> जो कुछ कर्म है, वह दुःखरूप ही है ऐसा समझकर कोई शारीरिक क्लेशके भयसे उसका त्याग कर दे, तो वह राजस त्याग करके भी त्यागके फलको नहीं पाता ॥

अध्याय 18, श्लोक 9

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

> हे अर्जुन! केवल कर्तव्यमात्र करना है ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 10

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

> जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है ॥

अध्याय 18, श्लोक 11

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

> कारण कि देहधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करना सम्भव नहीं है । इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है ऐसा कहा जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 12

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

> कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको कर्मोंका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके बाद भी होता है परन्तु कर्मफलका त्याग करनेवालोंको कहीं भी नहीं होता ॥

अध्याय 18, श्लोक 13

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

> हे महाबाहो! कर्मोंका अन्त करनेवाले सांख्यसिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये ये पाँच कारण बताये गये हैं, इनको तू मेरेसे समझ ॥

अध्याय 18, श्लोक 14

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

> इसमें कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान तथा कर्ता और अनेक प्रकारके करण एवं विविध प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ कारण दैव संस्कार है ॥

अध्याय 18, श्लोक 15

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

> मनुष्य, शरीर वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये पूर्वोक्त पाँचों हेतु होते हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 16

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

> परन्तु ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो उस कर्मोंके विषयमें केवल शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है ॥

अध्याय 18, श्लोक 17

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

> जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 18

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥

> ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता इन तीनोंसे कर्मप्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता इन तीनोंसे कर्मसंग्रह होता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 19

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

> गुणसंख्यान गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना करनेवाले शास्त्रमें गुणोंके भेदसे ज्ञान और कर्म तथा कर्ता तीन-तीन प्रकारसे ही कहे जाते हैं, उनको भी तुम यथार्थरूपसे सुनो ॥

अध्याय 18, श्लोक 20

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

> जिस ज्ञानके द्वारा साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी भावसत्ता को देखता है, उस ज्ञानको तुम सात्त्विक समझो ॥

अध्याय 18, श्लोक 21

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

> परन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें अलग-अलग अनेक भावोंको अलग-अलग रूपसे जानता है, उस ज्ञानको तुम राजस समझो ॥

अध्याय 18, श्लोक 22

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

> किंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके तरह आसक्त है तथा जो युक्तिरहित, वास्तविक ज्ञानसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 23

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

> जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो तथा फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा बिना रागद्वेषके किया हुआ हो, वह सात्त्विक कहा जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 24

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

> परन्तु जो कर्म भोगोंको चाहनेवाले मनुष्यके द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 25

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

> जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 26

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

> जो कर्ता रागरहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहयुक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 27

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

> जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्षशोकसे युक्त है, वह राजस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 28

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

> जो कर्ता असावधान, अशिक्षित, ऐंठअकड़वाला, जिद्दी, उपकारीका अपकार करनेवाला, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहा जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 29

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥

> हे धनञ्जय! अब तू गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन प्रकारके भेद अलगअलगरूपसे सुन, जो कि मेरे द्वारा पूर्णरूपसे कहे जा रहे हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 30

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

> हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 31

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

> हे पार्थ! मनुष्य जिसके द्वारा धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 32

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

> हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मान लेती है, वह तामसी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 33

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

> हे पार्थ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 34

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

> हे पृथानन्दन अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा धर्म, काम भोग और अर्थको अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 35

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

> हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और घमण्डको भी नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ॥

अध्याय 18, श्लोक 36

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

अध्याय 18, श्लोक 37

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

श्लोक 36 और 37 का अर्थ

> हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकारके सुखको भी तुम मेरेसे सुनो । जिसमें अभ्याससे रमण होता है और जिससे दुःखोंका अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला जो सुख सांसारिक आसक्तिके कारण आरम्भमें विषकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 38

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

> जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है, वह सुख राजस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 39

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

> निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख आरम्भमें और परिणाममें अपनेको मोहित करनेवाला है, वह सुख तामस कहा गया है ॥

अध्याय 18, श्लोक 40

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

> पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी वह ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ॥

अध्याय 18, श्लोक 41

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

> हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 42

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

> मनका निग्रह करना इन्द्रियोंको वशमें करना धर्मपालनके लिये कष्ट सहना बाहरभीतरसे शुद्ध रहना दूसरोंके अपराधको क्षमा करना शरीर, मन आदिमें सरलता रखना वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना यज्ञविधिको अनुभवमें लाना और परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिक भाव रखना ये सबकेसब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 43

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

> शूरवीरता, तेज, धैर्य, प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता, युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करनेका भाव ये सबकेसब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 44

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

> खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और शुद्ध व्यापार करना ये सबकेसब वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं, तथा चारों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥

अध्याय 18, श्लोक 45

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

> अपने-अपने कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धिपरमात्माको प्राप्त कर लेता है । अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको प्राप्त होता है उस प्रकारको तू मेरेसे सुन ॥

अध्याय 18, श्लोक 46

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

> जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 47

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

> अच्छी तरहसे अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे गुणरहित अपना धर्म श्रेष्ठ है । कारण कि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता ॥

अध्याय 18, श्लोक 48

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

> हे कुन्तीनन्दन! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण कर्म धुएँसे अग्निकी तरह किसीनकिसी दोषसे युक्त हैं ॥

अध्याय 18, श्लोक 49

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

> जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्तिरहित है, जिसने शरीरको वशमें कर रखा है, जो स्पृहारहित है, वह मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 50

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

> हे कौन्तेय! सिद्धिअन्तःकरणकी शुद्धि को प्राप्त हुआ साधक ब्रह्मको, जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा है, जिस प्रकारसे प्राप्त होता है, उस प्रकारको तुम मुझसे संक्षेपमें ही समझो ॥

अध्याय 18, श्लोक 51

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

अध्याय 18, श्लोक 52

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

अध्याय 18, श्लोक 53

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

श्लोक 51 से 53 का अर्थ

> जो विशुद्ध सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तका सेवन करनेवाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीरवाणीमनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और रागद्वेषको छोड़कर निरन्तर ध्यानयोगके परायण हो जाता है, वह अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके एवं निर्मम तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 54

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

> वह ब्रह्मभूतअवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है । ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 55

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

> उस पराभक्तिसे मेरेको, मैं जितना हूँ और जो हूँ इसको तत्त्वसे जान लेता है तथा मेरेको तत्त्वसे जानकर फिर तत्काल मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 56

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

> मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 57

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

> चित्तसे सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके, मेरे परायण होकर तथा समताका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा ॥

अध्याय 18, श्लोक 58

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

> मेरेमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा और यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 59

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

> अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या झूठा है क्योंकि तेरी क्षात्रप्रकृति तेरेको युद्धमें लगा देगी ॥

अध्याय 18, श्लोक 60

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

> हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जो नहीं करना चाहता, उसको तू क्षात्रप्रकृतिके परवश होकर करेगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 61

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

> हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको उनके स्वभावके अनुसार भ्रमण कराता रहता है ॥

अध्याय 18, श्लोक 62

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

> हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें चला जा । उसकी कृपासे तू परमशान्तिसंसारसे सर्वथा उपरति को और अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 63

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

> यह गुह्यसे भी गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान मैंने तुझे कह दिया । अब तू इसपर अच्छी तरहसे विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर ॥

अध्याय 18, श्लोक 64

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

> सबसे अत्यन्त गोपनीय वचन तू फिर मेरेसे सुन । तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहूँगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 65

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

> तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर । ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त हो जायगा यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥

अध्याय 18, श्लोक 66

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

> सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर ॥

अध्याय 18, श्लोक 67

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

> यह सर्वगुह्यतम वचन अतपस्वीको मत कहना अभक्तको कभी मत कहना जो सुनना नहीं चाहता, उसको मत कहना और जो मेरेमें दोषदृष्टि करता है, उससे भी मत कहना ॥

अध्याय 18, श्लोक 68

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

> मेरेमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवादगीताग्रन्थ को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥

अध्याय 18, श्लोक 69

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

> उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं ॥

अध्याय 18, श्लोक 70

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

> जो मनुष्य हम दोनोंके इस धर्ममय संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा ऐसा मेरा मत है ॥

अध्याय 18, श्लोक 71

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

> श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित जो मनुष्य इस गीताग्रन्थको सुन भी लेगा, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जायगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 72

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥

> हे पृथानन्दन! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे इसको सुना और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ ॥

अध्याय 18, श्लोक 73

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

> अर्जुन बोले: हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है । मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ । अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥

अध्याय 18, श्लोक 74

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

> सञ्जय बोले: इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह रोमाञ्चित करनेवाला अद्भुत संवाद सुना ॥

अध्याय 18, श्लोक 75

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

> व्यासजीकी कृपासे मैंने स्वयं इस परम गोपनीय योग गीताग्रन्थ को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे सुना है ॥

अध्याय 18, श्लोक 76

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

> हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद करकरके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥

अध्याय 18, श्लोक 77

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

> हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्रूपको याद करकरके मेरेको बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥

अध्याय 18, श्लोक 78

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

> जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीवधनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है ऐसा मेरा मत है ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

हर दिन गीता का एक श्लोक, हिंदी अर्थ के साथ,
wisdomquotes.in पर पढ़ें।

wisdomquotes.in/hi/gita/today